प्रस्तावना ।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को आहार, निद्रा भय, मैथुन और परिग्रह की आशा लगी रहती है और उनकी खोज के लिए दत्तचित्त होकर क्रियाओं में प्रवृत्ति की जाती है। ठीक उसी प्रकार दर्शन विषय में भी खोज की प्रवृत्ति होनी चाहिए । यावत्काल पर्यन्त दार्शनिक विषय में खोज नहीं की जाती तावत्कालपर्यन्त आत्मा स्वानुभव से भी वंचित ही रहता है। इस स्थान पर दर्शन नाम सिद्धान्त तथा विश्वास का है। जब तक किसी सिद्धान्त पर दृढ विश्वास नहीं होता तबतक आत्मा अभीष्ट क्रियाओं की सिद्धि में फलीभूत नहीं होता।

अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, किस स्थान (सिद्धात) पर दृढ विश्वास किया जाए, क्योंकि, इस समय अनेक दर्शन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि, यद्यपि वर्तमान काल में पूर्वकालवत् अनेक दर्शनों की सृष्टि उत्पन्न हो गई है वा हो रही है, तथापि सब दर्शनों का समवतार दो दर्शनों के अन्तर्गत हो जाता है। जैसे, आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।

यदि इस स्थान पर ये शंका उत्पन्न की जाए कि, नास्तिक मत को दर्शन क्यों कहते हो ? तब इस शंका के समाधान में कहा जाता है दर्शन शब्द का अर्थ है विश्वास (दृढता) सो जिस आत्मा का मिथ्याविश्वास है अर्थात् जो आत्मा पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ दृष्टि से नहीं देखता है, उसीका नाम नास्तिक दर्शन है, क्योंकि, नास्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्वभाव को नहीं मानता है सो जब आत्मा का अस्तित्वभाव ही नहीं तो फिर भला पुण्य और पाप किस को तथा उसके फल भोगनेरूप नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव योनि कहाँ ? अत एव निष्कर्ष यह निकला कि नास्तिक मत का मुख्य सिद्धान्त ऐहलौकिक सुखों का अनुभव करना ही है।

यद्यपि इस मत विषय बहुत कुछ लिखा जा सकता है तथापि प्रस्तावना में इस विषय में अधिक लिखना समुचित प्रतीत नहीं होता। सो यह मत आर्य पुरुषों के लिये त्याज्य है, क्योंकि, यह मत युक्ति बाधित और प्रमाणशून्य है। अतएव आस्तिकमत सर्वथा उपादेय है, इस लिये आस्तिक मत के आश्रित होना आर्य पुरुषों का परमोद्देश्य है । क्योंकि, आस्तिक मत का मुख्योद्देश्य अनुक्रमतापूर्वक निर्वाण प्राप्ति करना है।

यदि इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न की जाए कि, आस्तिक किसे कहते है। तब इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि, जो पदार्थो के अस्तित्वभाव को मानता है तथा यों कहिये कि, जो पदार्थ अपने द्रव्य गुण और पर्याय में अस्तित्व रखते है, उनको उसी प्रकार माना जाए वा उनको उसी प्रकार से मानने वाला आस्तिक कहलाता है।

व्याकरण शास्त्र में आस्तिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से कथन की गई है, जैसे कि—**दैष्टिकास्तिकनास्तिकाः** (शाकटायन व्याकरण अ॰ ३ पा २ सू॰ ६१) दैष्टिकादयस्तदस्येति षष्ठ्यर्थे ठणन्ता निपात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य दिष्टं दैवं प्रमाणमिव मतिरस्येति दैष्टिक। अस्ति परलोक पुण्य पापमिति च मतिरस्येत्यास्तिक । एव नास्तीति नास्तिक।

समर्पण।

श्रीमद् गणावच्छेदक वा स्थविरपदविभूषित स्वर्गीय श्रीश्रीश्री स्वामी गणपति राय जी महाराज !

आप की महती कृपा से इस दास को जैन धर्म की प्राप्ति हुई है, आपने ही इस दास को जैनतत्त्वों का अभ्यास कराया था। अतः आप के सद्गुणों में मुग्ध होता हुआ और आप के अपार उपकारों का स्मरण करता हुआ मैं इस ग्रन्थ को आप के कर-कमलों में सादर समर्पण करता हूँ।

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम।



राय साहिब लाला रघुवीरसिंह जैन

धन्यवाद।

जैन तत्त्व कलिका विकास के प्रकाशन का कुल व्यय श्रीमान् राय साहिब लाला रघुवीर सिंह जी ने प्रदान किया है जिसके लिये हम समस्त जैन जाति की ओर से उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं। आपका जन्म २३ जनवरी सन् १८८४ को हुआ था। आप एक सुप्रसिद्ध खानदान कानूनगोयां कस्बा हांसी के हैं। आपके पिता लाला शेरसिंह जी हांसी के प्रसिद्ध मालगुजार थे और बहुत समय म्युनिसिपल कमेटी हांसी के उपप्रधान (वायस प्रेज़ीडेंट) रहे। आप एक अच्छे ज़ैलदार गिने जाते थे। आपके पितामह (दादा) ला० रणजीत सिंह जी भी चिरकाल तक कस्टम डिपार्टमैंट में अच्छे अच्छे पदों पर नियुक्त रहे।

पिछले दर्बार ताजपोशी के समय आप देहली में नायब तहसीलदार थे और तत्पश्चात् अम्बाले में बहुत दिनों तक आप S V O रहे। अम्बाला दिगम्बर जैन सभा के आप प्रधान भी रहे। वहां पर आपको जैनधर्म वा स्वधर्मी भाइयों की सेवा का अच्छा अवसर मिला। आप हर एक की उन्नति का विशेष ध्यान रखते थे। आपकी योग्यता का लक्ष्य रखकर गवर्नमैंट ने आपको शिमला के निकटवर्त्ती अर्की रयासत का मैनेजर बनाकर भेजा। प्रजा के हितार्थ आपने वहा अनेक कार्य किए और अच्छी प्रशंसा प्राप्त की। तत्पश्चात् गवर्नमैंट ने आपको नालागढ़ रियासत का वज़ीर बनाकर भेजा। वहां के शासन को दृढ़ता के साथ न्याय पूर्वक चलाकर प्रजा को सन्तुष्ट किया और रियासत की माली हालत को अच्छा बनाया। जनता के हित के लिये आपने नालागढ़ में बहुत सारे कार्य किए। और उनके लाभ के लिए बड़ी बड़ी इमारते बनवाईं। जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त 'अहिंसा' का आप सदैव सुचारु रूप से पालन करवाते थे। जैनियों के सर्व प्रधान संवत्सरी पर्व के आठ दिनों मे आपने राजाज्ञा से उक्त रियासत में शिकार खेलना और मांस भक्षणादि करना तथा कसावखाना वगैरह सब बन्द करा दिए थे। आप के कार्य से सन्तुष्ट होकर सन् १९२४ में सरकार ने आपको राय साहिब के टाइटिल (पदवी) से विभूषित किया।

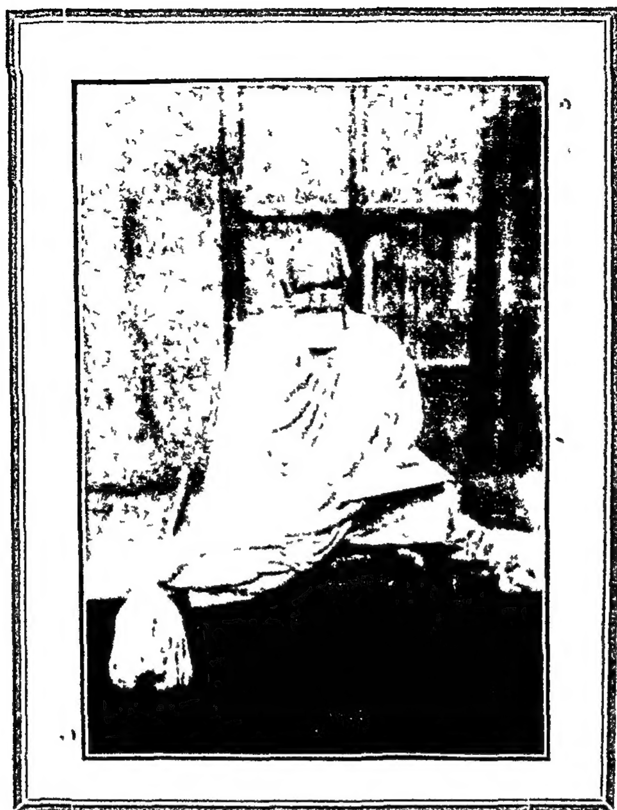
तत्पश्चात् मिंटगुमरी, रोहतक, मियांवाली व लुधियाने मे आप अफ़सर माल रहे। जब आप लुधियाने में थे तब आपको श्रीश्रीश्री १००८ गणावच्छे-

श्रीः

विषयानुक्रमणिका

प्रथमा कलिका

द्वितीया कलिका



जिस महात्मा के चित्र का दर्शन करके पाठक जन अपने हृदय तथा नेत्रों को पवित्र कर रहे हैं उन का शुभ नाम है "श्री १००८ गणावच्छेदक वा स्थविरपद–विभूषित श्रीमद् गणपतिरायजी महाराज। आपका जन्म स्यालकोट जिला के अन्तर्गत पसरूर नामक शहर में श्रीविक्रमाब्द १९०६ भाद्रपद कृष्ण तृतीया मंगलवार के दिन त्रिपंखिया गोत्रीय (काश्यपगोत्रान्तर्गत) लाला गुरुदास मल्ल श्रीमाल की धर्मपत्नी श्रीमती गोर्या की कुक्षि से हुआ था आपके निहालचन्द्र १ लालचन्द्र २ पालामल ३ पंजुमल चार भ्राता थे और निहालदेवी १ पाली देवी २ और तोती देवी ३ ये तीन भगिनियां थीं। आपका शैशव काल बडे ही आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ और युवावस्था प्राप्त होने पर नूनार ग्राम मे वि संवत् १९२४ में आपका विवाह संस्कार हुआ । आप सराफ़ी की दुकान करने

अपने नानाके घर पसरूर में ही रहते थे। यह और अन्य कतिपय गृहस्थ वैराग्य भाव को धारण कर अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिये धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे। फिर परस्पर के संसर्ग से सब का ही वैराग्य भाव बढ़ता चला गया। जब सब ने यह ही क्रिया धारण करली तब सबको आज्ञा मिल गई।

दीक्षाविषय।

कुटुम्बियों से आज्ञा प्राप्त होते ही प्रसन्नता पूर्वक सबके सब दीक्षा के लिए शहर से चल पड़े, उन दिनों मे श्री श्री श्री १००८ आचार्य वर्य श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज अमृतसर में विराजमान थे। श्री दूलोराय जी १ श्री शिवदयाल जी २ श्री सोहनलाल जी ३ श्री गणपतिराय जी ४ ये चारों वैरागी पुरुष श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज के चरण कमलों मे उपस्थित होगए। तब श्री पूज्य (आचार्य) महाराज ने चारों को अपने अमूल्य उपदेश द्वारा और भी वैराग्य भाव में दृढ़ किया। सांसारिक पदार्थों की अनित्यता दिखलाई। जब उक्त चारों महापुरुषों का वैराग्य भाव उच्च कोटि पर पहुच गया तब श्री पूज्य महाराज ने उक्त चारो महापुरुषों को १९३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ चन्द्रवार के दिन बडे समारोह के साथ दीक्षित किया। उन दिनों मे श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज नालागढ़ मे विराजमान थे। तब श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज ने श्री गणपतिराय जी महाराज को श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज की निश्राय कर दिया। तब आपने उसी दिन से अपना पवित्र समय ज्ञान और ध्यान मे लगाना आरम्भ किया। जब आप श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज के चरणों मे उपस्थित हुए तब आप साधु क्रिया और श्रुताध्ययन विशेष रूप से करने लगे। विशेष ध्यान आपका साधु क्रिया और वैयावृत्य वा गुरु भक्ति पर था जिस कारण शीघ्र ही गच्छ वा श्री संघ मे आप सुप्रसिद्ध होगए। आप की सौम्याकृति, नम्रता, साधुभक्ति प्रत्येक व्यक्ति के मन को मुग्ध करती थी। दीर्घदर्शिता और समयानुसार वर्ताव ये दोनों बातें आप की अनुपम थीं। तत्पश्चात् आपने निम्नलिखित अनुसार चातुर्मास किये जैसे कि--

१९३४ का चतुर्मास आपने श्री पूज्य मोतीराम जी के साथ अम्बाला जिले के अन्तर्गत खरड़ शहर में किया।

१९३५ का चतुर्मास आपने बहुत से क्षेत्रों में विचर कर स्यालकोट मे किया।

१९३६ का चतुर्मास आपने श्री पूज्य महाराज के साथ जम्बू शहर मे किया।

१९३७ का चतुर्मास पसरूर शहर में किया।

१९३८ का चतुर्मास लुधियाना शहर मे किया।

१—सम्वत् १९३८ में श्रीमदाचार्य श्री १००८ पूज्य अमरसिंह जी महाराज का अमृतसर में स्वर्गवास हो गया था तब श्री संघने १९३९ में मालेरकोटला में श्री मोतीराम जी

थी। उस समय श्री श्री श्री १००८ स्वामी लालचन्द्र जी महाराज भी पटियाले में ही विराजमान थे। आप आचार्य पद देने के पश्चात् अम्बाला और साढौरा की ओर विहार कर गये। फिर आप साढौरा, अम्बाला, पटियाला, नाभा, मलेरकोटला, रामदेकोट, फीरोज़पुर, कसूर, लाहौर होते हुए गुजरांवाले में पधार गए। वहां पर रावलपिंडी वाले श्रावकों की अत्यन्त विज्ञप्ति होने से फिर आपने रावलपिंडी की ओर विहार कर दिया। मार्ग में वज़ीराबाद, कुंजाह, जेहलम, रोहतास, कल्लर, में धर्मोपदेश देते हुए आप रावलपिंडी में विराजमान होगये। १९५८ का चतुर्मास आपने अपने मुनि-परिवार के साथ रावलपिंडी शहर में ही किया। इस चतुर्मास में धर्मप्रचार बहुत ही हुआ। इसके अनन्तर आप अनुक्रम से धर्मप्रचार करते हुए स्यालकोट मे पधार गए। वहां पर भी अत्यन्त धर्मप्रचार होने लगा, वहां के श्रावकवर्ग ने आपको चातु-र्मास विषयक विज्ञप्ति की। फिर आप श्री जी ने श्रावकवर्ग का अत्यन्त आग्रह देख-कर उनकी विज्ञप्ति को स्वीकार कर १९६० का चतुर्मास स्यालकोट का मान लिया। बीच का शेष काल अमृतसर, जम्बू आदि क्षेत्रों में धर्मप्रचार करके १९६० का चतुर्मास स्यालकोट में आपने किया। चतुर्मास मे बहुत से धर्मकार्य हुए। चतुर्मास के पश्चात् आप अमृतसर पधारे। वहां पर श्री पूज्य सोहनलाल जी महाराज वा मारवाड़ी साधु श्री देवीलाल जी महाराज वा अन्य साधु वा आर्यिकाये भी एकत्र हुए थे। उन दिनों मे गच्छ में बहुत सी उपाधियें भी वितीर्ण हुई थी,। उसी समय आपको "गणावच्छे-दक" वा "स्थविर" पद से विभूपित किया गया था। इसके पीछे आपने वहां से विहार कर दिया। किंतु आपको श्वास रोग (दमा) प्रादुर्भूत होगया। जिस कारण बहुत दूर विहार करने में बाधा उत्पन्न होगई। तब आपने १९६१ का चतुर्मास फरीद-कोट शहर मे कर दिया।

१९६२ का चतुर्मास आपने पटियाले में किया।

१९६३ का अम्बाला शहर में किया। तब आपके साथ चतुर्मास से पूर्व मारवाड़ी साधु भी कितना काल विचरते रहे।

१९६४ का चतुर्मास आपने रोपड शहर में किया। इस चतुर्मास मे जैनेतर लोगों को धर्म का बहुत सा लाभ पहुंचा। नागरिक लोग आपकी सेवा में दत्तचित्त होकर धर्म का लाभ विशेष उठाने लग गये। किंतु श्वासरोग (दमा) का कई प्रकार से प्रतिकार किये जाने पर भी वह शान्त न हुआ। अतएव आपको कई नगरो के लोग स्थिरवास रहने की विज्ञप्ति करने लगे, किंतु आपने उनकी विज्ञप्ति को स्वीकृत नहीं किया। आपने आत्मबल से विचरते ही रहे। कई बार आपको मार्ग मे वा ग्रामो मे श्वासरोग का प्रबल वेग (दौरा) होगया, जिस कारण आपकी शिष्य मंडली को बस्त्र की डोली

श्री म०—इस समय तो प्रचंड वायु आदि का भी कोई उत्पात नही तो फिर क्यो कर गिर जायगा ?

पुरुष—यूं भी गिर जाया करता है।

तब श्री महाराज वा अन्य साधु उठ कर अन्यत्र गये। तब उस पुरुष ने कहा कि—आप शीघ्रता न करें, पहले अपना उपकरण उठालें, फिर यह वृक्ष गिरेगा। तब साधुओ ने शान्तिपूर्वक उपकरण उठाकर अन्य स्थान पर रख दिये और आप शान्ति-पूर्वक बैठ गये। इतना कह कर वह पुरुष अदृश्य होगया, और उसी समय उस वृक्ष की महती (बडी) शाखा जो उस पुल पर फैली हुई थी अकस्मात् गिरी, जिस से पुल का मार्ग ही बद होगया। शाखा के गिरते (टूटते) समय इतना भयंकर शब्द हुआ कि जो श्रावकवर्ग दर्शन करके सराय की ओर जा रहा था, उनको भी सुनाई पडा। तब वे लोग बहुत ही शीघ्र श्रीमहाराज के दर्शनों के लिये फिर उसी स्थान पर गए। दर्शन करके बहुत ही आनदित हुए। जब उन्होंने उक्त वृत्तान्त को सुना तब उनके हर्ष का पारावार न रहा फिर वे धन्य २ करते और आपकी स्तुति करते हुए पुनः वापिस चले गये।

एक समय आप नाभा से विहार कर पटियाले की ओर जा रहे थे, तब आप को एक जंगल मे चीता (शेर की आकृति का हिंसक पशु) मिला, आप उस को देखकर निर्भीक खड़े हो गए। तब वह आप को देखकर शान्ति-पूर्वक आप के पास से गुज़र कर जगल की ओर ही चला गया। यह सब आप के सयम और शान्ति का ही माहात्म्य था क्योंकि—प्रत्येक प्राणी के साथ आप की निर्वैरता थी, उसी का यह माहात्म्य था। निर्वैरता के ही कारण हिंसक जीव भी आपके प्रति निर्वैरता का ही परिचय देते थे। अम्बाला के चतुर्मास का वृत्तान्त है कि—एक समय वर्षा होने के पश्चात् मध्याह्न काल में शहर से बहुत दूरी पर आप मुनियो के साथ बाहिर गए। जब आप अपनी नैत्यिक क्रियाओ से निवृत्त होकर शहर की ओर पधार रहे थे, तब मार्ग मे आप को साप मिला। वह भी आप के साथ ही साथ चलने लगा। इस प्रकार आपके साथ चलता था जिस प्रकार आप का शिष्यवर्ग आप के साथ गमन करता था। जब आप मार्ग परिवर्तन करने लगे, तब आपने फरमाया कि—ऐसे न हो इसे कोई मार डाले। इतना वाक्य आप के मुख से सुनते ही वह सांप आपके देखते ही देखते एक झाड मे प्रविष्ट होगया। पश्चात् आप शहर में पधार गए। यह सब शान्ति का ही माहात्म्य था कि जो हिंसक जीव भी आप के साथ भद्रता का ही परिचय देते थे। फीरोजपुर शहर मे भी ऐसी ही एक घटना हुई थी। जब आप नैत्यिक क्रियाओ से निवृत्त होने

मथुरा दास जी मोगानिवासी की सम्मत्यनुसार आप श्रीको साधु वस्त्र की डोली बना कर मोगा मंडी में लेगए। डाक्टर साहब ने बड़े प्रेम से आप की आंखों का प्रतिकार किया आप श्री जी की दोनों आंखों से मोतिया निकाला गया। आपकी दृष्टि ठीक होगई, फिर आप श्री जी को उसी प्रकार साधु वस्त्र की डोली में बैठा कर लुध्याना में ही ले आए। आप श्री जी के लुध्याना में विराजने से नगरनिवासी प्राय., प्रत्येक जन को प्रसन्नता थी। जिस प्रकार जैन संघ आप की भक्ति में दत्तचित्त था उसी प्रकार जैनेतर लोग भी आपकी भक्ति करके अपने जविन को सफल मानते थे। आप का प्रेमभाव प्रत्येक जन के साथ था। इसी कारण प्रत्येक अन्यमतावलम्बी भी आपको पूज्य दृष्टि से देखता था और दर्शन करके अपने आप को कृतकृत्य समझता था। यह आपके सत्योपदेश का ही फल है जो लुध्याना में 'जैनकन्या पाठशाला' नाम की संस्था भली प्रकार से चलरही है। अनुमान सवा दोसौ २२५ कन्याएं शिक्षा पारही हैं। इस पाठशाला मे सां-सारिक शिक्षा के अतिरिक्त कन्याओं को धार्मिक शिक्षा भी भली प्रकार से दी जारही है। पञ्जाब प्रान्त मे, स्थानकवासी जैनसमाज में यह एक ही पाठशाला है। इस का सुप्रबन्ध और नियमपूर्वक संचालन इस के कर्मचारी भली प्रकार से कर रहे हैं। आपके वचन में एक ऐसी अलौकिक शक्ति थी, जो प्रत्येक जन को हितशिक्षा प्रदान करती थी। आप के मधुर वाक्य स्वल्पाक्षर और गभीरार्थ होते थे। सदैवकाल आप आत्मविचार तथा मौनवृत्ति से समय विशेष व्यतीत करते थे। आपकी प्रत्येक वार्ता शिक्षा प्रद थी। कालगति बडी विचित्र है। यह किसी का ध्यान नहीं करती कि-यह धर्मात्मा है या पापिष्ट। यही गति स्वामी जी के साथ हुई। १९८८ ज्येष्ट कृष्णा २५ शुक्रवार के दिन स्वामी जी ने पाक्षिक व्रत किया।

वृद्धावस्था के कारण आप को खेद तो रहा ही करता था, किन्तु पारने के दिन शनिवार को आप को वमन और विरेचन लग गए, जिस से आप अत्यन्त निर्बल होगए, तब सायकाल आप ने अन्य साधुओं से कहा कि मुझे अनशन करादो, उस समय साधुओं ने आप को सागारी अनशन करा दिया। उस समय आप ने आलोचना द्वारा भली प्रकार आत्मविशुद्धि की और सब जीवों के प्रति अन्त.करण से क्षमापन किया। रविवार के दिन आपने औषध को छोड़ कर फिर सागारी अनशन कर दिया। रविवार को १२ बजे के पश्चात् आप की दशा चिंताजनक होगई। सायकाल फिर आपने चार आहार का त्याग करादिया। सोमवार प्रात काल जब डाक्टर और वैद्य ने आप को देखा तो निश्चय हुआ कि-अब दशा विशेष चिंताजनक होगई है, तब आपको निरागार यावज्जीव पर्यन्त अनशन कराया गया। आप शान्ति से लेटे हुए थे, और आप के पास साधुवर्ग वा श्रावकवर्ग बैठा हुआ था जो आपको सूत्रपाठ सुना रहे थे। जब

❀ जैनतत्त्वकलिकाविकास—पूर्वार्द्ध ❀

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ देवाधिदेवा देवाधिदेवा ! गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवतो उप्पन्ननाणदंसणधरा तीयपडुप्पन्न मणागया जाणया अरहा जिणा केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी से तेणट्ठेणं जाव देवाधिदेवा २ ॥

भगवती सूत्र-शतक १२-उद्देश ६ ।

अंधयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयम्मि पाणिणं ॥
उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोय पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयम्मि पाणिणं ॥
भाणूय इ इ के वुत्ते केसीगोयममब्बवी ।
केसिमेवं वुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥
उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्व लोयम्मि पाणिणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन २३

भावार्थ—श्रीगौतम स्वामी श्री भगवान् महावीर स्वामी से विनय पूर्वक प्रश्न करते है कि हे भगवन् ! देवाधिदेव किस कारण से कहे जाते है इस प्रश्न के उत्तर मे श्रीभगवान् प्रतिपादन करते है कि—हे गौतम ! जो यह अर्हन्त भगवन्त उत्पन्न ज्ञान दर्शन के धरने वाले है अतीत काल और वर्त्तमान तथा भविष्यत् काल के जानने वाले है अर्हन्त रागद्वेष के जीतने वाले संपूर्ण ज्ञान के धरने वाले जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है इसी कारण से उन्हे देवाधिदेव कहा जाता है । तथा केशी कुमार श्रमण श्री गौतम गणधर से प्रश्न पूछते है कि—हे गौतम ! इस भयंकर घोर अंधकार मे बहुत से प्राणी ठहर रहे है सो कौन सर्वलोक में उक्त प्राणियों को उद्योत करेगा ?

इस के प्रतिवचन में गौतम स्वामी कहने लगे कि—हे भगवन् ! उदय हुआ निर्मल सूर्य सर्वलोक में प्रकाश करने वाला सो सर्वलोक में उक्त प्रकार के प्राणियों को उद्योत करेगा ।

इस प्रहेलिका रूप प्रश्न को स्पष्ट करते हुए फिर श्रीकेशी कुमार श्रमण

वे सर्व श्रीभगवान् के ज्ञान से बाहिर नहीं अपितु वे तीनों काल के पर्यायों को हस्तामलकवत् जानते और देखते हैं।

यदि ऐसे कहा जाए कि—"सर्वज्ञ" शब्द तो मानना युक्तिसंगत सिद्ध होता है किन्तु त्रिकालवेत्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि-त्रिकालवेत्ता मानने मे दो आपत्तियां उपस्थित होजाती हैं! जैसे कि-एक तो यह है कि-जब कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई तो भला फिर उसका देखना वा जानना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? द्वितीय जब सर्वज्ञ ही मान लिया तब फिर उस को त्रिकाल-वेत्ता मानना परस्पर विरोध रखना है क्योंकि-सर्वज्ञ को एक रसमय का ज्ञान होता है वह ज्ञान परिवर्त्तनशील नहीं होता किन्तु त्रिकालवेत्ता का ज्ञान परि-वर्त्तनशील मानना पड़ेगा जैसे—पदार्थ परिवर्त्तनशील हैं और वे क्षण २ में नूतन वा पुरातन पर्यायों के धारण करने वाले हैं सो जब पदार्थों की इस प्रकार की स्थिति है तब ज्ञान भी उसी प्रकार का मानना पड़ेगा क्योंकि—ज्ञान पदार्थों का ही होता है अतएव सर्वज्ञ के साथ त्रिकालवेत्ता शब्द का विशेषण लगाना युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि-जैसे "नीलो-त्पल" शब्द मे 'नील' शब्द 'उत्पल' शब्द का विशेषण माना जाता है तथा "सम्यग्ज्ञान" शब्दमें ज्ञान शब्दका सम्यग् शब्द विशेषण माना गया है ठीक तद्वत् सर्वज्ञ शब्द का त्रिकालवेत्ता शब्द विशेषण रूप है इस लिये इसमें कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं होती है क्योंकि-सर्वज्ञ प्रभु का ज्ञान तो सर्व काल में एक ही रसमय होता है किन्तु जिस व्यक्ति की अपेक्षा से वह ज्ञान मे उस व्यक्ति की दशा को जानते और देखते हैं उसकी अपेक्षा से ही उन्हें त्रिकालदर्शी कहा जाता है जैसे कि-व्याकरण शास्त्र मे कालद्रव्य एक होने पर भी उस के दशों लकारों द्वारा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान रूप तीन विभाग किये गए हैं।

इस में कोई भी संदेह नहीं है कि-जो व्यक्ति जिस समय जिस देश में विद्यमान होता है उसका तो वह वर्त्तमान काल ही होता है परन्तु उस व्यक्ति को भूत काल में होनेवाले जीव भविष्यत् काल में रखते हैं और भविष्यत् काल में होने वाले जीव उस को भूत काल में रखेंगे। परंच काल द्रव्य तीनों विभागों में एक रसमय होता है सो जिस प्रकार काल द्रव्य एक होने पर व्यक्तियों की अपेक्षा तीन विभागों मे किया गया है ठीक उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञानविषय में भी जानना चाहिए अर्थात् ज्ञान मे किसी प्रकार से भी विसंवाद नहीं हो सकता किन्तु जिस प्रकार वह ज्ञान में पदार्थों के स्वरूप को देखते हैं वे पदार्थ उसी प्रकार होते रहते हैं।

जो यह शंका उत्पादन की गई थी कि-जो वस्तु अभी तक हुई नहीं।

"इमं कम्मं अयं जीवे" त्ति अनेन द्वयोरपि प्रत्यक्षतामाह केवलित्वादर्हत, "अब्भोवगमियाए" त्ति 'प्राकृतत्वादभ्युपगमः—प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्य-भूमिशयनकेशलुञ्चनादीनामङ्गीकारस्तेन निर्वृता आभ्युपगमिकीतया "वेय-इस्सइ" त्ति भविष्यत्कालनिर्देशः भविष्यत् पदार्थो विशिष्टज्ञानवतामेव ज्ञेयः अतीतो वर्त्तमानश्च पुनरनुभवद्वारेणान्यस्यापि ज्ञेयः संभवतीति ज्ञापनार्थः "उव-क्कमियाए" त्ति उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः—कर्मवेदनोपायस्तत्रभवा औपक्रमि-की—स्वयमुदीर्णस्योदीरणाकरणेन वोदयमुपनीतस्य कर्मणोऽनुभवस्तया औपक्रमिक्या वेदनया वेदयिष्यति, तथाच 'अहा कम्मं' ति यथाकर्म—बद्धमा-नातिक्रमेण 'अहा निगरणं' ति निकरणानां—नियतानां देशकालादीनां करणानां-विपरिणामहेतूनामनतिक्रमेण यथा यथा तत्कर्म भगवता दृष्टं तथा तथा विपरि-णंस्यतीति, इति शब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति॥

इस पाठ का यह सारॉश है कि-श्रीभगवान् अपने ज्ञान मे यह भली प्रकार से जानते और देखते हैं कि—यह जीव वाहिर के निमित्तो द्वारा कर्म वेदेगा और यह जीव स्वयं उदय होने योग्य कर्मो की उदीरणा करने से कर्मों का अनुभव करेगा कारण कि—कर्म दो प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे कि—एक तो प्रदेश कर्म और द्वितीय अनुभाग कर्म सो जो प्रदेश कर्म होते हैं वे आत्म प्रदेशों के साथ क्षीर नीरवत् ओत प्रोतरूप होकर एक रूप से रहते हैं वह तो अवश्यमेव भोगने मे आते है किन्तु जो अनुभाग कर्म हैं वे अनुभव करने में आ भी सकते है नही भी आसकते जैसे-मिथ्यात्व के क्षयोपशमकाल मे अनुभाग कर्म से फल नहीं अनुभव किया जाता अपितु प्रदेश कर्म अवश्य-मेव भोगने में आते है सो जिस प्रकार आत्म प्रदेशों द्वारा कर्मों का वंध हो चुका है फिर जिस देश कालादि में उन कर्मों के रस का अनुभव करना है वा जिस प्रकार से जिस निमित्त से कर्मों के फल भोगने हैं सो जिस प्रकार अर्हन् भगवान् ने अपने ज्ञान में देखा है वह उसी प्रकार परिणत होवेगा अर्थात् तीनों काल के भाव जिस प्रकार ज्ञान मे देखे गए है वे भाव उसी प्रकार होते रहेगे क्योंकि—केवल ज्ञान विशद ज्ञान होता है सो इस सूत्र पाठ से सर्वज्ञ प्रभु को त्रिकाल-दर्शी युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। अतएव त्रिकालदर्शी शब्द किसी अमुक पदार्थ की अपेक्षा से ही कथन किया गया है जैसे—यह अमुक जीव अमुक देश काल मे अमुक कर्मों के फल का अनुभव करेगा किन्तु श्री भगवान् का केवलज्ञान तीनो काल मे एक रसमय रहता है। यदि ऐसे कहा जाए कि—ज्ञानात्मा रूप सर्वज्ञ प्रभु जव तीनो काल के भावो को हस्तामलकवत् अव-लोकन करते है तो फिर जीव की स्वतंत्रता जाती रही और पुरुषार्थ करना भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा क्योकि—जो श्रीभगवान् ने ज्ञान मे देखा हुआ है

मेव भोगने हैं। अतएव उन कर्मों के फलादेश के समय दोनों नयों का अवलम्बन करना चाहिये। जैसे कि-जब अशुभ कर्म उदय में आजाएं तब निश्चय के अवलम्बन से चित्त मे शांति उत्पन्न करनी चाहिये। और व्यवहार नय के आश्रित होकर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए तथा कर्मक्षय करने के लिये चेष्टाएँ करनी चाहिएं।

सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान सब स्थानों पर व्याप्त हो रहा है अर्थात् वे अपने ज्ञान द्वारा तीनों काल के भावों को यथावत् हस्तामलकवत् देखते हैं इस बात पर पूर्ण विश्वास रखकर निकृष्ट कर्मों से बचना चाहिए। क्योंकि-लोकव्यवहार में देखा जाता है कि-यावन्मात्र अशुभ कर्म हैं उनको प्रायः लोग गुप्त ही रखने की चेष्टा करते हैं और अपने अन्तःकरण में यह भाव भी उत्पन्न करते हैं कि हमारी-अनुचित क्रिया को कोई देख न ले तथा जान न ले यदि अनुचित क्रियाएँ करते समय कोई अन्य व्यक्ति अकस्मात् उस स्थान पर आ भी जावे तब वे अनुचित क्रियाएँ करने वाले व्यक्ति उस स्थान से भाग निकलते हैं अर्थात् वे अनुचित क्रियाएँ गुप्त ही करने की इच्छा रखते हैं।

इसी न्याय से जब अर्हन् प्रभु वा सिद्ध भगवान् अपने ज्ञान द्वारा तीनों काल के भावों को जानते और देखते हैं तो फिर किसी स्थान पर भी अनुचित क्रियाएँ न करनी चाहिएं।

वास्तव में-सर्वज्ञात्मा के मानने का यही मुख्य प्रयोजन है जब उसको मानते हुए भी अनुचित प्रवृत्ति की जा रही है तो फिर इस से सिद्ध हुआ कि-नाममात्र से ही उसको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माना गया है परंच अन्तःकरण अनुचित क्रियाओं की ओर ही झुका हुआ है।

विचार करने की बात है जब चर्म-चक्षुओं का इतना भय माना जाता है तो फिर सर्वज्ञात्मा का अन्तःकरण में भय क्यों नहीं माना जाता। अतएव सिद्ध हुआ कि-अर्हन् वा सिद्ध भगवान् का ज्ञान सर्व स्थानों को यथावत् भाव से देख रहा है इस बात को ठीक मान कर पाप कर्मों से निवृत्ति कर लेनी चाहिए। क्योंकि-सूर्यवत् ज्ञान द्वारा प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ प्रभु ही हैं उन्हीं के सत्योपदेश द्वारा भव्यात्मा अपना कल्याण कर सकते हैं। अतएव उन्हीं के उपदेश द्वारा भव्य प्राणियों को सुमार्ग मे स्थापन करना चाहिए जिससे कि-वे मोक्षसाधन के पात्र बनें। इतना ही नहीं किन्तु अनेक आत्माओं को भी सुमार्ग में लाएँ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-किन २ क्रियाओं द्वारा अर्हन् पद की प्राप्ति हो सकती है। इस के उत्तर मे कहा जा सकता है कि-शास्त्रों मे उक्त पदकी प्राप्ति के लिये बीस स्थान वर्णन किये गए हैं अर्थात् बीस प्रकार की

सर्वलोकालोक को हस्तामलकवत् देख रहे हैं जिनको आत्मिक अनंत सुख की प्राप्ति हो रही है इसी कारण से वे आत्मिक सुख मे निमग्न हैं यदि तीनों काल के देवों के सुख के समूह को एकत्र किया जाए तो वह सुख मोक्षात्मा के सुख के सन्मुख अनंतवे भाग मात्र भी नहीं है क्योंकि-सांसारिक सुख पुद्गल-जन्य हैः और मोक्ष का सुख आत्मिक सुख है सो जब पौद्गलिक सुख को मोक्ष के सुख के साथ तुलना की जाती है तब वह सुख उस सुख के सामने अनंतवें भाग मात्र भी प्रतीत नहीं होता जैसे-दो बालक अपनी कक्षाओं में परीक्षा देकर चले आए और वे दोनों अपनी परीक्षा के फल की प्रतीक्षा किये जा रहे हैं। एक समय की बात है कि-उन दोनों बालकों में से एक बालक अति स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करने वाला सुन्दर भोजन कर रहा है, और दूसरा बालक उसके पास बैठा हुआ है परंच भोजन करने वाला बालक अपने सुन्दर भोजन में आनन्द मानता हुआ अपने सहचर का उपहास भी करता जाता है। इस प्रकार की क्रियाएं करते समय दोनों के फलादेश के पत्र उसी समय आगए परन्तु जो बालक भोजन में आनन्द मान रहा था उसके पत्र में यह लिखा हुआ था कि-तुम इस वार्षिक परीक्षा मे अब की बार उत्तीर्णता प्राप्त न करसके सो शोक है इत्यादि। किन्तु द्वितीय पत्र मे यह लिखा हुआ था कि-हे प्रियवर! आपको कोटिशः धन्यवाद है आपको शुभ समाचार दिया जाता है कि-आप अपनी कक्षा में प्रथमांक में उत्तीर्ण होगए हैं इत्यादि। जब पहिले पत्र के लेख को भोजन करने वाले बालक ने पढ़ा वह भोजन के आनन्द को सर्वथा भूल कर शोक दशा को प्राप्त हो गया इतना ही नहीं किन्तु अपमृत्यु के कारणों को ढूंढने लग गया। जब दूसरे बालक ने अपने पत्र को पढ़ा वह आनन्द की सीमा को भी उल्लंघन करने लगा। अब हम पौद्गलिक सुख वा ज्ञान के सुख की तुलना करसकते हैं कि-दोनों का परस्पर कितना अन्तर है, सो सिद्धात्मा आत्मिक सुख मे निमग्न है सो सिद्ध प्रभुके गुणों में अनुराग करने से तथा गुणोत्कीर्त्तन करने से जीव तीर्थंकर नाम की उपार्जना कर लेता है।

३ प्रवचन—श्रीभगवत् के उपदेशों का जो संग्रह है उसी का नाम प्रवचन है सो उस प्रवचन की भक्ति करना अर्थात् ज्ञान का सत्कार करना जो नास्तिक आत्मा सर्वज्ञोक्त उपदेश की आशातनाएं करने वाले हैं उन को हित-शिक्षाओं द्वारा शिक्षित करना जिससे वे आशातना फिर न कर सकें तथा जिनवाणी के सदैव गुणोत्कीर्त्तन करते रहना, जैसे कि-हे आर्यो! यही परमार्थ है, शेष यावन्मात्र संसारी कार्य है वे अनर्थों के ही उत्पादन करने वाले हैं, अतः प्रवचन प्रभावना करने से आत्मा उक्त कर्म की उपार्जना कर लेता है।

४ गुरु-सत्योपदेष्टा श्रीभगवत् के प्रतिपादन किये हुए धर्म के अनुकूल

कर्म की उपार्जना करलेता है, क्योंकि-जब मति ज्ञानादि में पुनः २ उपयोग दिया जायगा तब पदार्थों का यथावत् स्वरूप जाना जायगा जिस का परिणाम यह होगा कि- आत्मा ज्ञान-समाधि मे निमग्न हो जायगा। समाधि का फल उक्त लिखित स्वाभाविक होता ही है, अतएव स्त्री-भक्त-राज्य-देश-विकथादि छोड़ कर सदैव काल ज्ञान में ही उपयोग लगाना चाहिए; क्योंकि-जो आत्मा ज्ञान में उपयोग लगाने वाले होते हैं उनके अज्ञान का क्षय होने से साथ ही क्लेशों का भी क्षय हो जाता है, जैसे-वायु के होने पर ही जल में बुद्बुदों के उत्पन्न होने की सम्भावना की जा सकती है ठीक तद्वत् क्लेश के क्षय होने से चित्तसमाधि सदा के लिये स्थिरता पकड़ जाती है सो चित्त समाधि के लिये पुनः २ ज्ञान में उपयोग देना चाहिए तथा समाधि के ही माहात्म्य से उक्त कर्म की उपार्जना की जा सकती है।

९ दर्शन—सम्यक्त्व का धारण करना, क्योंकि-यावत्काल सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तावत्काल संसार के छूटने का उपाय भी नहीं कियाजाता सम्यक्त्व का अर्थ पदार्थों के स्वरूप को ठीक २ जानना ही है तथा देव गुरु और धर्म पर पूर्ण निश्चय करना मिथ्यात्व सम्बन्धी क्रियाओं से पीछे हटजाना इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन द्वारा अनेक आत्माओं को संसार पथ से विमुक्त कर मोक्ष पथ में लगादेना तथा यावत्काल-पर्यन्त सम्यक्त्व धारण नहीं किया जायगा तावत्कालपर्यन्त प्राणी संसार चक्र के बन्धन से पृथक् नहीं हो सकता जैसे एक अंक विना यावन्मात्र बिंदु होते हैं वे शून्य ही कह जाते हैं ठीक उसी प्रकार सम्यक्त्व के विना यावन्मात्र क्रिया-कलाप है वह मोक्ष-पथ के लिये शून्य रूप है। अतएव सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व का धारण करना आवश्यकीय है यदि एक मुहूर्त्त मात्र भी सम्यक्त्व का आत्म-प्रदेशों के साथ स्पर्श होजाए तब आत्मा उत्कृष्टता से देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्त्त करके मोक्ष पासकता है। वा यावन्मात्र आत्मा मुक्त हुए हैं वे सर्व इसी के माहात्म्य का फल है। सो सम्यक्त्व के शुद्ध पालने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्र की उपार्जना कर लेता है।

१० विनय—मति ज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ और केवल ज्ञान ५ इन पांचों ज्ञानों की विनय भक्ति करना तथा गुरु आदि की विनय करना और अर्हन्तादि की आशातना न करना कारण कि-विनय करने से आत्म विशुद्धि होती है और अहंकार के भावों का क्षय हो जाता है जब अहंकार भाव जाता रहा तब आत्मा समाधि के मार्ग में लग जाता है तथा " विनय " शब्द कर्त्तव्य परायणता का भी वाची है जिसने व्रतों को धारण किया हुआ है उन व्रतों (नियमों) को निरतिचार पालन करना वास्तव में उसी का नाम

की शक्ति उत्पादन कर लेता है अतएव शीलव्रतों को निरतिचार ही पालना चाहिए।

१३ क्षणलव—क्षण और लव यह दोनों शब्द काल के वाचक हैं, सो क्षणलव में संवेगभावना ध्यानासेवन के द्वारा भी उक्त कर्म बांधा जासकता है। इसका सारांश यह है कि—क्षण २ में संवेगभाव धारण करना चाहिये तथा अनित्यादि भावनाओं द्वारा अपना समय व्यतीत करना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु धर्मध्यान वा शुक्लध्यान द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा कर देनी चाहिये। कारण कि—पुरातन कर्मों के क्षय करने के यही पूर्वोक्त उत्तम मार्ग है। सो इन्हीं के सेवन से अपना पवित्र समय व्यतीत करना चाहिये, सो जब आत्मा में संवेगभाव उत्पन्न हो जायगा तब अनित्यादि भावनाएं और शुभ ध्यान सहज में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अतएव यदि क्षणलव शुभ क्रियाओं द्वारा व्यतीत किए जायेंगे तब क्षयोपशम-भाव द्वारा तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के बन्ध की प्राप्ति हो जाती है। इस कथन से यह भी सिद्ध हुए विना नहीं रह सकता कि—समय व्यर्थ न खोना चाहिये अपितु धर्मक्रियाओ द्वारा समय सफल करना चाहिये। जैसे वैतनिक पुरुष का समय वेतन के साथ वृद्धि पाता रहता है, ठीक तद्वत् धर्मी पुरुष का समय धर्म क्रियाओं द्वारा सफल हो जाता है।

१४ तपः—जिस प्रकार अग्नि आर्द्र इंधन वा शुष्क इंधन को भस्म कर देती है ठीक उसी प्रकार यावन्मात्र कर्म किये हुए हैं, वे सर्व तपकर्म द्वारा क्षय किये जा सकते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणी को तप कर्म के आश्रित होना चाहिए, और फिर इसी तप क्रिया से अनेक प्रकार की आमौंपधि नामक ऋद्धिएं उत्पन्न हो जाती हैं, और आत्मा का तेज विशाल हो जाता है वा आत्म-तेज द्वारा जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वन जाता है, अतएव तप करना अत्याव-श्यकीय है। तथा बहुत से शारीरिक रोग भी तप कर्म से उपशान्त हो जाते हैं, जब आत्मा नीरोगावस्था में होता है, तब समाधि आदि की कियाए भी सुखपूर्वक साधन की जा सकती हैं तथा अनेक प्रकार के भयकर कष्टों से तपकर्म द्वारा जीव रक्षा पाते हैं। सो वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप-कर्म द्वारा उक्त कर्म का निवन्ध किया जा सकता है, सो यथाशक्ति तपकर्म करने का अवश्यमेव अभ्यास करना चाहिए।

१५ त्याग—दान-क्रियाओं से उक्त कर्म का निवन्धन किया जा सकता है सो यति आदि को उचित दान देने से उक्त कर्म करने का निवन्धन करना चाहिए। यद्यपि—दान के अनेक प्रकार से भेद वर्णन किए गए है, तथापि सब से बढ़ कर श्रुतविद्या का दान माना जाता है। क्योंकि— और दानों से तो ऐहलौकिक वा

को समाधि में मानने लग जाता है, किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो वह समाधि क्षणस्थायी सिद्ध होती है क्योंकि-द्वितीय क्षण में उस व्यक्ति की फिर वही दशा हो जाती है ठीक उसी प्रकार पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिए। जैसे कि-जब अभीष्ट पदार्थ की उपलब्धि हो जाती है तब उस समय वह अपने आत्मा को समाधि में मानने लग जाता है और जब फिर उसकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है तब फिर उसके पास जो विद्यमान पदार्थ है वह उसके आत्मा को समाधि-प्रदान करने समर्थ नहीं रहता।

अतएव द्रव्य समाधि क्षणस्थायी कथन की गई है द्वितीय भाव-समाधि है जो तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है। जैसे कि ज्ञानसमाधि, दर्शन-समाधि और चारित्रसमाधि। सो ज्ञानसमाधि उसका नाम है जो ज्ञान में आत्मा को निमग्न कर देता है। क्योंकि जिस समय ज्ञान में पदार्थों का यथावत् अनुभव किया जाता है, तब आत्मा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द उत्पन्न हो जाता है। सो वह आनन्द का समय समाधिरूप ही कहा जाता है। इसी प्रकार दर्शन-विषय में भी जानना चाहिए। क्योंकि-जब पदार्थों के जानने में वा जिनवाणी में दृढ़ विश्वास किया जाता है, तब शंकादि के उत्पन्न न होने से चित्त में सदैव समाधि बनी रहती है। यदि उस को कोई देव विशेष भी धर्मक्रियाओं से वा धर्मसिद्धान्त से विचलित करना चाहे तो उसका आत्मा इस प्रकार-दृढ़ होता है, जैसे कि सुमेरु पर्वत है। अर्थात् उसका आत्मा धर्म पथ से विचलित हो ही नहीं सकता है। तृतीय चारित्रसमाधि उस का नाम है जो श्रुतानुसार क्रियाएं करनी हैं तथा गुरु आदि की यथावत् आज्ञा पालन करनी हैं। जब स्थविरादि की यथावत् आज्ञा पालन की जाती है, तब अपने चित्त तथा स्थविरादि के चित्त को शांति होने से आत्मा में समाधि की उत्पत्ति हो जाती है, अतएव भावसमाधि उत्पन्न करके उक्त नाम गोत्रकर्म की उपार्जना कर लेनी चाहिए, क्योंकि-जब आत्मा में क्लेशादि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं तब आत्मा में असमाधि की उत्पत्ति होने लग जाती है, जिस के माहात्म्य से अशुभ प्रकृतियों का बंध पड़ता जाता है फिर उसका अंतिम परिणाम दुःखप्रद होता है।

१८ अपूर्वज्ञानग्रहण—अपूर्व ज्ञान के ग्रहण से भी उक्त कर्म का निबंधन किया जा सकता है-इस अंक का तात्पर्य यह है कि हेय ज्ञेय-और उपादेय के यथावत् स्वरूप को जो जानता है, उसी का नाम अपूर्व ज्ञान ग्रहण है तथा उक्त अंकों को हृदय में ठीक स्थापन करके फिर स्वसमय और परसमय के सिद्धान्तों का अवलोकन करना है उस समय यथार्थ ज्ञान के प्राप्त होने पर जो आत्मा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द रस उत्पन्न होता है वह अकथनीय होता है तथा नूतन २ ज्ञान के सीखने का अभ्यास निरंतर करते रहना उसी का नाम अपूर्व

पवित्र करने के लिये चेष्टा करने लग जाती है। इसी वास्ते सूत्र मे लिखा है कि-श्रुत की आराधना करने से अज्ञान और क्लेश दोनों का ही नाश हो जाता है: क्योंकि-क्लेश का होना अज्ञानता का ही माहात्म्य है, जब अज्ञान नष्ट हो गया तब क्लेश साथ ही जाता रहा। अतएव सिद्ध हुआ कि-श्रुतभक्ति द्वारा उक्त कर्म के बन्धन से अनेक आत्माओं का कल्याण करके प्राणी मोक्ष-गमन कर लेता है।

२० प्रवचन प्रभावना—शास्त्र की प्रभावना करने से उक्त प्रकार का कर्म-बंधन किया जा सकता है, परंच शास्त्रप्रभावना यथाशक्ति सत्पथ के उपदेश करने से ही हो सकती है। क्योंकि-जब भव्य आत्माओं को पुन पुनः शास्त्र पढ़ाया वा सुनाया जाता है, तब वे भव्यात्मा शास्त्र में कथन किये हुए सत्य पदार्थों का अपने शुद्ध हृदय में अनुभव करते हैं अर्थात् अनुप्रेक्षा करते हैं; और उनके हृदय में उस शास्त्र की प्रभावना बैठ जाती है। अतएव आलस्य वा प्रमाद को छोड़ कर केवल भव्यात्माओं को शास्त्र-विहित उपदेश सुना कर प्रवचनप्रभावना करनी चाहिए। यह बात अनिवार्य मानी जासकती है, कि-जो बात अपने हृदय में निश्चय कर बैठाई जावे; यावन्मात्र उसका फल होता है तावन्मात्र किसी अन्य बलवान् के आदेश के द्वारा कार्य किये जाने पर नहीं हो सकता। जैसे-एक हिंसक पुरुष हिंसा के फल को ठीक समझ कर हिंसा-कर्म का परित्याग करता है, और एक पुरुष संवत्सरी आदि पर्वों में राजाज्ञा द्वारा उक्त कर्म से निवृत होता है। उन में यावन्मात्र फल स्वयं हिंसा के फल को जान कर त्यागने वाले को उपलब्ध हो सकता है तावन्मात्र फल जो राजाज्ञा द्वारा कुछ समय के लिये हिंसा से निवृत्त होता है, उस व्यक्ति को नहीं हो सकता। कारण कि-उसका अन्तःकरण स्वयं निवृत्त नहीं है। अत. शास्त्रों द्वारा हर एक पदार्थ का फलाफल जान कर उससे निवृत्ति करनी चाहिए। सो इस प्रकार का बोध शास्त्र सुनने से ही प्राप्त हो सकता है, इसी लिये शास्त्रों का पठनपाठन आवश्यकीय प्रतिपादन किया गया है। सच्ची प्रभावना इसी प्रकार से हो सकती है। यद्यपि आधुनिक समय में अनेक प्रकार से प्रभावना करने की प्रथाएं प्रचलित हो रही हैं, तथापि वे प्रभावनाएं प्रभावना का जैसा फल होना चाहिए था उस प्रकार का फल देने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। प्रवचनप्रभावना जिस प्रकार हो सके, और जिस के माहात्म्य से जीव मोक्ष साधन के अधिकारी बन जावें, उस प्रभावना के द्वारा जीव तीर्थंकर नाम गोत्र की उपार्जना करके फिर अनेक भव्यात्माओं को मोक्षाधिकारी बना कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जब जीव उक्त कारणों से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का निबन्धन कर लेता है तब वह स्वर्गादि में जाकर

रुधिर और मांस गो-दुग्ध के समान श्वेतवर्ण का होता है। यद्यपि रुधिर का वर्णन प्रायः रक्त ही कथन किया गया है, परन्तु उनके अतिशय के माहात्म्य से रुधिर वा मांस श्वेत वर्ण का होजाता है। यदि ऐसे कहा जाय कि—यह प्रकृति-विरुद्ध नियम किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह किया जाता है कि—यह प्रकृति-विरुद्ध नियम नहीं है, किन्तु यह एक पुण्यकर्म का उत्कृष्ट फलादेश है। क्योंकि-पुद्गल पांचवर्णों में परिणत होता रहता है। जैसे जन्त्वागार में शुक वा मयूर श्वेतवर्ण के देखे जाते हैं किन्तु प्रायः मयूर नील वर्ण के ही होते हैं तथा उनकी पिच्छ अनेक प्रकार के वर्णों से चित्रित होती है, और (तोते) प्रायः हरे वर्ण के होते हैं, परन्तु जब मयूर वा शुक श्वेतवर्ण के देखने में आते हैं तब उनमे पूर्वोक्त बातें नहीं पाई जातीं, तो क्या इन जीवों को प्रकृति-विरुद्ध माना जायगा? नहीं। इसी प्रकार महापुण्योदय से वा प्रकाशमय आत्मा होने से तीर्थंकर प्रभु के शरीर का रुधिर और मांस श्वेत प्रभा का धारण करने वाला होता है। क्योंकि-पुद्गल द्रव्य अनन्त पर्यायों का धारण करने वाला होता है। तथा कुछ २ व्यक्तियों में दुग्ध विषय में भी विवाद चलता रहता है। उनका कथन है कि-शरीरज होने से दुग्ध भी एक प्रकार का रुधिर ही है, सो यह पक्ष नाड़ियों के पृथक् २ होने से अमान्य है, अतएव सिद्ध हुआ कि श्रीतीर्थंकर देव के शरीर का रुधिर और मांस श्वेत वर्ण वाला ही होता है। साथ ही इसमें यह भी जानना उचित है कि-यह कथन सापेक्ष है, और पुण्य कर्म की एक विलक्षणता दिखलाई गई है।

४ पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे।

जिस प्रकार सुगंधमय द्रव्यों का तथा नीलोत्पल कमल का सुगंध होता है, उसी प्रकार का सुगंध उच्छ्वास और निश्वास द्वारा श्री भगवान् के वायु से आता है अर्थात् श्रीभगवान् का उच्छ्वास नीलोत्पल कमलवत् तथा सुगन्ध मय द्रव्यों के समान होता है। इस का कारण यह है कि-उनके पुण्योदय से उनके शरीर का वायु प्रायः दुर्गन्धमय नहीं होता। यह उपमालंकार से कथन किया गया है। यदि ऐसे कहा जाय कि-जब उनका शरीर अन्न के आधार पर ठहरा हुआ है, तो फिर उश्वास वा निश्वास उक्त प्रकार से किस प्रकार शुद्ध हो सकता है? इस के उत्तर में कहा जाता है कि-प्रायः तैजस शरीर के मन्द पड़ जाने से उच्छ्वास और निश्वास में विकृति विशेष हो जाती है; उस से उन का तैजस शरीर मंदता का धारण करने वाला नहीं होता है, तथा समाधिस्थ आत्मा प्रकाशमय हो जाने से उसके अशुभ पुद्गल शुभ भाव के धारण करने वाले हो जाते हैं।

चलती है, जो श्रीभगवान् की सर्वज्ञता को सूचित करने वाली है।

११ जत्थ जत्थ वियणं अरहंता भगवंता चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वियणं तक्खणादेव (जक्खादेवा) संछन्न पत्त पुप्फ पल्लव समाउलो सछत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवर पायवे अभिसंजायइ ॥

जिस २ स्थान पर श्रीभगवान् खड़े होते है वा बैठते है उसी २ स्थान पर तत्क्षण ही पत्र और पुष्पों से संच्छन्न और अंकुर युक्त तथा छत्र और ध्वजा वा घंटा अथवा पताका संयुक्त प्रधान-अशोक नामी वृक्ष उत्पन्न हो जाता है अर्थात् फल पुष्पों से युक्त तथा यावन्मात्र प्रधान वृक्षों की लक्ष्मी होती है उस लक्ष्मी से युक्त छत्र ध्वजा वा घंटा और पताका-संयुक्त अशोक नाम वाला वृक्ष भी उत्पन्न हो जाता है. जिससे श्रीभगवान् के ऊपर छाया हो जाती है। यह सब अतिशय कर्म-क्षय होने से ही उत्पन्न हो सकती है। कारण कि-जो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म बांधा हुआ होता है; उसके भोगने के लिये उक्त क्रियाएं स्वाभाविक हो जाती है। यह सब घातिए कर्मों के क्षय करने का ही माहात्म्य है।

१२ ईसिं पिट्ठओ मउडट्ठाणंमि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधकारे वियणं। दस दिसाओ पभासेइ।

पृष्ट के पिछले भाग में एक तेजोमंडल होता है, जो दसों दिशाओं में विस्तृत हुए अंधकार का नाश करता है अर्थात् उस प्रभास मंडल के द्वारा श्री भगवान् के समीप सदैव काल उद्योत रहता है। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति का ही माहात्म्य है, जिस के कारण से अंधकार का सर्वथा नाश हो जाता है।

१३ बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे।

जहां पर श्री भगवान् विचरते हैं वह भूमि भाग अत्यन्त सम और रमणीय हो जाता है। भूमि भाग की विषमता दूर हो जाती है. उसका सौंदर्य अत्यन्त्य बढ़ जाता है।

१४—अहोसिरा कंटया जायन्ति (भवंति)।

और कंटक अधोसिर हो जाते हैं अर्थात् यदि मार्ग में कंटक भी पड़े हों तो वे भी अधोशिर हो जाते है। जिस कारण से वे पथ के चलने वालों को अपने तीक्ष्ण स्वभाव से पीडित करने में समर्थ नहीं रहते।

१५—उऊ विवरीया सुहफासा भवंति।

ऋतु के विपरीत होने पर भी सुखकारी स्पर्श रहता है अर्थात् ऋतु

वहां पर प्रगट हो जाते हैं।

२१ पच्चाहरओ वियणं हिययगमणीओ जोयणणीहारीसरो।

श्रीभगवान् का व्याख्यान करते समय हृदय मे गमनीय और अति मधुर एक योजन प्रमाण स्वर (वाणी) होता है अर्थात् श्री भगवान् का स्वर एक योजन प्रमाण होता है, जिस से श्रोताओं को उस स्वर द्वारा सुख पूर्वक ज्ञान हो जाता है।

२२ भगवंचणं अद्धमागहीएं भासाए धम्ममाइक्खइ।

श्रीभगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्म कथा करते हैं। प्राकृत १ संस्कृत २ शौरसेनी ३ मागधी ४ पैशाची ५ और अपभ्रंश ६ यह षट् भाषाएं है, इन में जो "रसोर्लसौमागध्याम्" इत्यादि सूत्र मागधी भा ा के वर्णन करने में आते हैं। उन लक्षणों से युक्त और प्राकृतादि से युक्त अर्द्धमागधी नाम वाली भाषा में श्रीभगवान् धर्म-कथा करते हैं

२३ सावियणं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरिय मणारियाणं दुप्पए-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि सरीसिवाणं अप्पणोहिय सिवसुहयभासत्ताए परिणमइ।

वह अर्द्धमागधी भाषा भाषण की हुई उन सर्व आर्य अनार्य द्विपद (मनुष्य) चतुष्पद (गवादयः) मृग (अटवी के पशु) पशु (ग्राम्य के पशु) पक्षी और सांप इन की आत्मीय भाषा में परिणत (तबदील) हो जाती है तथा वह अर्द्धमागधी भाषा अभ्युदय करने वाली मोक्ष सुख को देने वाली और आनन्द को देने वाली होती है। जिस प्रकार मेघ का जल एक रसमय होने पर भी भिन्न २ प्रकार के वृक्षों के फलों में भिन्न २ प्रकार से परिणत हो जाता है ठीक उसी प्रकार अर्द्धमागधी भाषा के विषय में भी जानना चाहिए। इस से यह भी सिद्ध किया गया है कि-श्रीभगवान् के अतिशय के माहात्म्य से आर्य अनार्य पशु पक्षी आदि श्री भगवान् के सत्योपदेश से लाभ उठाते थे। तथा इस से यह भी ध्वनि निकल आती है कि-प्रत्येक प्राणी को उनकी भाषा मे ही शिक्षा का प्रवन्ध करना चाहिए; जिस से, वे शीघ्रता से बोध पासके

२४ पुव्वबद्धवेरा वियणं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसाकिंनर किंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगा अरहओपायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति।

श्रीभगवान् के समीप बैठे हुए देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष ,राक्षस, किंनर, किंपुरुष, गरुड, गंधर्व महोरग इत्यादि देव गण पूर्ववद्ध वैर होने पर भी

का न होना अर्थात् राजा की ओर से प्रजा को किसी प्रकार से भी भय नहीं होता।

३० परचक्कं न भवइ।

पर-राजाओं की ओर से भी कोई उपद्रव नहीं होता। क्योंकि-जिस समय स्वकीय और परकीय राजाओं की ओर से किसी उपद्रव होने की आशंका नहीं होती· उस समय प्रजा प्रसन्नता पूर्वक अपनी वृद्धि की ओर झुक सकती है। इतना ही नहीं किन्तु स्वेच्छानुसार वृद्धि कर सकती है।

३१ अइवुट्ठि न भवइ।

जिस देश में श्री भगवान् विचरते हैं उस देश में हानिकारक वृष्टि नहीं होती, क्योंकि अतिवृष्टि होने से जन धन और कुलों का भी क्षय हो जाता है। लोक अति कष्ट में पड़जाते हैं। जनता प्राणों की रक्षा के लिये भी व्याकुल हो उठती है। सो श्रीभगवान् के पुण्योदय से देश में अतिवृष्टि होती ही नहीं।

३२ अणावुट्ठि न भवइ।

अनावृष्टि भी नहीं होती। क्योंकि-जिस प्रकार अतिवृष्टि से जनता को कष्ट सहन करने पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार वर्षा के अभाव से भी वे ही कष्ट उपस्थित हो जाते हैं। जिससे जन धन और कुल-क्षय होने की सम्भावना की जा सकती है। अतएव श्रीभगवान् के अतिशय के माहात्म्य से अनावृष्टि भी नहीं होती। अपितु धान्यों के वृद्धि करने वाली प्रमाण पूर्वक ही वृष्टि होती है।

३३ दुभिक्खं न भवइ।

दुर्भिक्ष नहीं होता। क्योंकि-दुष्काल के पड़ जाने से अनेक प्रकार की विपत्तियों का जनता को सामना करना पड़ता है जिससे विद्या, बुद्धि तथा बल धर्मादि की गति ये सब मंद पड़जाते है, और सदैव काल भूख के सहन करने से प्राणों के रहने का भी संशय रहता है, और यावन्मात्र हानियां तथा उपद्रव उपस्थित होते हैं, उनका मुख्य कारण दुर्भिक्ष ही होता है तथा दुर्भिक्ष के कारण धर्म की गति अति मन्द पड़ जाती है।

३४ पुव्वुप्पण्णाविचणं उप्पाइया वाही खिप्पामिव उवसमंति।

पूर्व-उत्पन्न ज्वरादि रोग वा व्याधियों तथा अनिष्ट सूचक उत्पातों के द्वारा जो प्रजा को अशान्ति के उत्पन्न होने के लक्षण दीखते है, वे सब श्री भगवान् के अतिशय के माहात्म्य से उपशम होजाते है अर्थात् देश में सर्वथा शान्ति विराजमान रहती है। इसमे कतिपय अतिशय जन्म से ही होते हैं, और कतिपय दीक्षा के पश्चात् केवल ज्ञान होने पर प्रगट होते हैं, तथा कतिपय अतिशय भव-प्रत्यय और कतिपय देवकृत माने जाते हैं: परंच सब

की आप्तता का घातक हो जाता है । अतएव सर्वज्ञ प्रभु के वाक्य पूर्वापर विरोध के प्रकट करने वाले नहीं होते, किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रकट करने वाले होते हैं अर्थात् सापेक्षिक वाक्य होते हैं। जैसे एक व्यक्ति को उसके पिताकी अपेक्षा पुत्र भी कह सकते हैं, और उसके पुत्र की अपेक्षा पिता भी कह सकते हैं।

१० शिष्टत्वं—अभिप्रेत सिद्धान्तोक्त की शिष्टता का सूचक वाक्य अर्थात् जिस पक्ष को स्वीकार किया हुआ है उस सिद्धान्त की योग्यता का सूचक वाक्य होता है।

११ असंदिग्धत्वम्—श्रोता जनों के संदेह को दूर करने वाला वाक्य होता है तथा श्रोताजनों को किसी प्रकार से भी श्री भगवत् की वाणी में संशय उत्पन्न नहीं हो सकता वा वाणी भ्रम युक्त नहीं होती कि-इन्होंने क्या प्रतिपादन किया है ? अतएव संदेह रहित वाक्य होता है।

१२ अपहृतान्योत्तरत्वम्—वाणी में किसी के दूषणों का प्रकाश नहीं पाया जाता अर्थात् वाणी में किसी की निन्दा नहीं होती अपितु हेय-ज्ञेय-और उपादेय रूप विषयों का ही वर्णन होता है। नतु किसी की निन्दा का।

१३ हृदयग्राहित्वम्—श्रोताओं के हृदयों को प्रिय लगने वाले वाक्य होते हैं। इसी कारण वे प्रसन्नता पूर्वक श्रीभगवान् की वाणी का अमृतपान करते हैं।

१४ देशकालाव्यतीतत्वम्—देश काल के अनुसार वाक्य होता है अर्थात् प्रस्तावोचितता उस वाक्य में पाई जाती है। क्योंकि-जो वाक्य देश काल की सीमा को उल्लंघन नहीं करता, वह अवश्य हृदय ग्राही होजाता है।

१५ तत्त्वानुरूपत्वम्—जिस पदार्थ के वर्णन का प्रारम्भ किया हुआ है, उसी कथन की पुष्टि करने वाले आगे के वाक्य होते हैं। जैसे-अहिंसा का प्रकरण चला हुआ है, तो यावन्मात्र वाक्य कहे जावेंगे, वे सब अहिंसा के सम्बन्ध में होंगे। न कि हिंसा सम्बन्धी।

१६ अप्रकीर्णप्रसृतत्वम्—जिस प्रकरण की व्याख्या की जारही है, उसके अतिरिक्त अप्रस्तुत विषय का फिर उसमें वर्णन नहीं होता अर्थात् स्वपक्ष को छोड़कर अप्रस्तुत प्रकरण का वर्णन करना अपनी अयोग्यता सिद्ध करना है। सो प्रभु के वाक्य में इस प्रकार अप्रस्तुत विषय का प्रकरण नितांत (बिलकुल) नहीं होता। न अति सम्बन्ध रहित विस्तार ही होता है।

१७ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्—परस्पर पदों की सापेक्षता रहती है। क्यों कि-यदि परस्पर पदों की सापेक्षता न रहे तो उस वाक्य से अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती, अतएव पद परस्पर सापेक्षता रखने वाले

की शैली श्रीभगवान् की प्रतिपादन की गई है।

२६ विभ्रमविक्षेपकिलकिञ्चितादिविमुक्तत्वम्—वह वाक्य मनोदोष के दोषों से भी रहित होता है। जैसे-वक्ता के मन में भ्रांतता, और चित्त का विक्षेप रोष भयादि के भाव तथा प्रत्यनासक्तता इत्यादि मन के दोषों से वह वाक्य रहित होता है। क्योंकि- यदि उक्त मन के दोषों के साथ वाक्य उच्चारण किया जायगा तो वह वाक्य आप्त वाक्य नहीं कहा जा सकता। नाहीं उस वाक्य से यथार्थता से पदार्थों का बोध हो सकता है।

३० अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम्—वस्तु का स्वरूप विचित्रतासे वर्णन किया हुआ उस वाक्य से सिद्ध होता है। क्योंकि-श्रीभगवान् जिस पदार्थ का वर्णन करते हैं, उस पदार्थ का वर्णन नय और प्रमाण द्वारा वर्णन किये जाने पर अनेक प्रकार की विचित्रता उस वाक्य में पाई जाती है।

३१ आहितविशेषत्वम्—वचनान्तर की अपेक्षा से ढौकितता (हित शिक्षा का समुदाय) विशेषता से होती है अर्थात् श्रीभगवान् का परम पवित्र वाक्य प्राणी मात्र के हित का प्रकाशक होता है।

३२ साकारत्वम्-विच्छिन्नवर्ण पद वाक्य होने से उस वाक्य में आकारता पाई जाती है अर्थात् साकार वाक्य सौंदर्य का धारण करने वाला होता है।

३३ सत्वपरिगृहीतत्वम्—साहस भाव से युक्त अर्थात् निर्भयता का सूचक वाक्य होता है।

३४ अपरिखेदितत्वम्—श्रीभगवान् अनंत बल होने से धर्म कथा करते हुए खेद नहीं पाते, क्योंकि-षोडश प्रहर पर्यन्त देशना करने पर भी श्रीभगवान् परिश्रम को प्राप्त नहीं होते अतएव धर्म कथा करते हुए उनको खेद कदापि नहीं होता।

३५ अव्युच्छेदित्वम्—यावत्काल पर्यन्त विवक्षित अर्थों की सम्यग् प्रकार से सिद्धि न हो जाए, तावत्काल पर्यन्त अनवच्छिन्न वचन प्रमेय होता है अर्थात् श्रीभगवान् जिस पदार्थ का वर्णन करने लगते हैं, उस की सिद्धि सर्व-नय और प्रमाणों द्वारा सर्व प्रकार से योग्यता पूर्वक कर देते हैं। सो यह सब अतिशय चार मूलातिशयों में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं, जैसे कि-ज्ञानातिशय १ पूजातिशय २ वागतिशय ३ और अपायापगमातिशय ४ किन्तु ये सब अतिशय उसी समय प्राप्त होती हैं जब कि- ज्ञानावरणीय कर्म १ दर्शनावरणीय कर्म २ मोहनी कर्म ३ और अन्तराय कर्म ये चारों घातिक संज्ञक कर्म क्षय होजाते हैं, इन्हीं के क्षय हो जाने से अनन्तज्ञान १ अनंतदर्शन २ क्षायिकसम्यक्त्वभाव ३ और अनंत बल वीर्य प्रकट हो जाता है। तथा इन्हीं कर्मों के क्षय होजाने से श्रीभगवान् अष्टादश दोषों से रहित कहे जाते हैं। जैसे कि—

काम लेते ही नहीं। इस के समाधान में कहा जाता है कि-क्या उक्त चेष्टाओं के करने से ही लाभ लिया जा सकता है ? जैसे-किसी व्यक्ति को अत्यन्त लक्ष्मी की प्राप्ति हो गई तो फिर क्या मदिरा-पान, मांस-भक्षण, वेश्या संग, द्यूत कर्म इत्यादि कृत्यों के करने से ही उस मिली हुई लक्ष्मी का लाभ लिया जा सकता है। नहीं। इसी प्रकार श्रीभगवान् के जब अंतराय कर्म का क्षय होता है तब उक्त पांचों प्रकृतियों के क्षय होने से आत्मिक पांचों शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु वे शक्तियां मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से किसी प्रकार से भी विकार को प्राप्त नहीं हो सकतीं। जैसे-लोगों का माना हुआ ईश्वर सर्व-व्यापक वेश्यादि के अंगोपांगों में रहने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता तथा अंनत शक्ति होने पर भी विषय में अंनत शक्ति का उपयोग नहीं करता। यदि इस में ऐसे कहा जाय कि-जब वह अनन्त शक्ति युक्त तथा सर्वव्यापक है तो फिर विषय क्यों नहीं करता तथा जब लोग विषयादिक कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं, तब वह उसी स्थान में व्यापक होता है, और इस कृत्य को भली प्रकार से देखता भी है तो फिर उसे देखने से और उस में व्यापक होने से क्या लाभ हुआ? इन सब प्रश्नों का यही उत्तर बन पड़ेगा कि-ईश्वर सर्व शक्तिमान् होने पर भी विकारी नहीं है ठीक उसी प्रकार अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर भी श्रीभगवान् मोहनीय कर्म के क्षय होजाने से सदैव काल अविकारी भाव में रहते हैं, परन्तु अन्तराय कर्म के क्षय होजाने के कारण से उनमें अनन्त शक्ति का प्रगट होजाना स्वाभाविकता से माना जा सकता है तथा यदि उन शक्तियों का व्यवहृत होना स्वीकार किया जायगा तो उनमें अनेक प्रकार के अन्य दोषों का भी सद्भाव मानना पड़ेगा। जिससे उन पर अनेक दोषों का समूह एकत्र हो जाने से उनको निर्विकार स्वीकार करने में संकुचित भाव रखना पड़ेगा। अतएव श्रीभगवान् अनन्त शक्तियों के प्रकट होजाने पर भी निर्विकार अवस्था में सदैव काल रहते हैं।

६ श्रीभगवान् हास्य रूप दोष से भी रहित होते हैं क्योंकि-चार कारणों से हास्य उत्पन्न होता है। जैसे कि-हास्य पूर्वक बात करने से १ हंसते को देखने से २ हास्य-कारी बात के सुनने से ३ और हास्य उत्पन्न करने वाली बात की स्मृति करने से ४ सो हास्य के उत्पन्न होजाने से सर्वज्ञता का अभाव अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि-हास्य अपूर्व बात के कारण से उत्पन्न होता है, जब वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं तब उनके ज्ञान में अपूर्व कौनसी बात हो सकती है। अतः वीतराग प्रभु हास्य रूप दोष से भी रहित होते हैं।

७ रति—पदार्थों पर रतिभाव उत्पन्न करना। यह भी एक मोहनीय कर्म का मुख्य कारण है। सो श्रीभगवान् पदार्थों पर प्रीतिभाव रखना इस दोष से

जा रहे हैं, और उसी में जीव निमग्न हो रहे हैं। सो यावत्काल सम्यक्त्व रूपी सूर्य का हृदय में प्रकाश नहीं होता तावत्काल पर्यन्त मिथ्यात्व रूपी तिमिर नष्ट नहीं हो सकता। सो भगवान् उक्त दोष से भी रहित हैं। क्योंकि-दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होजाने से मिथ्यात्व की सर्व प्रकृतियां क्षय होजाती हैं।

१४ अज्ञान—सम्यग् ज्ञान होने से अज्ञान उनका नष्ट होगया है-जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है ठीक तद्वत् जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब उसी समय अज्ञानरूपी तिमिर भाग जाता है। सो भगवान् मौढ्यभाव से रहित होते हैं; और सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद के धारण करने वाले होते हैं। अतः उनमें अज्ञानभाव का लेश भी नहीं होता।

१५ निद्रा—श्रीभगवान् निद्रागत भी नहीं होते क्योंकि-निद्रा का आना दर्शनावरणीय कर्म के कारण होता है, सो वह कर्म पहिले ही क्षय किया जाता है जब निद्रा का कारण ही नष्ट होगया तो फिर निद्रारूप कार्य की प्राप्ति किस प्रकार हो सके? क्योंकि-जो सर्वज्ञ प्रभु होते हैं वे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म से रहित होते हैं अतएव वे सदैव काल जाग्रतावस्था में ही रहते हैं. तथा यदि ऐसे कहा जाय कि-निद्रा का मुख्य हेतु आहारादि क्रियाएं है इसलिये जैसा-गरिष्ठादि आहार किया जाता है उसी प्रकार निद्रा का आवेश होता है। सो यह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि-निद्रा का आना दर्शनावरणीय कर्म का उदय है और क्षुधा का लगना यह वेदनीय कर्म का उदय है सो केवली भगवान् के वेदनीय कर्म का तो उदय रहता है परन्तु दर्शनावरणीय कर्म उनका सर्वथा क्षय होता है। सो जब निद्रा का कारणीभूत कर्म ही नष्ट होगया तो फिर आहारादि द्वारा निद्रादि कार्यों की कल्पना करना यह कथन युक्ति संगत नहीं है तात्पर्य यह कि-श्रीभगवान् निद्रा के दोष से रहित हैं।

१६ अविरति—श्रीभगवान् विरति युक्त होते हैं अर्थात् वे अप्रत्याख्यानी नहीं है किन्तु प्रत्याख्यानी हैं अप्रमत्त संयत पद के धारण करने वाले हैं।

१७ राग—राग रूप दोष से भी श्रीभगवान् रहित होते है क्योंकि-जब पदार्थों पर राग भाव बना रहा तब सुख की स्मृति और उस पौद्गलिक सुख के लिये फिर नाना प्रकार के परिश्रम किये जाते हैं जब पुरुषार्थ में असफलता दीख पड़ती है तब चित्त उदासीन वृत्ति में प्रवेश किये विना नहीं रह सकता। सो जिस आत्मा की उक्त वृत्ति हो जाए, फिर उस आत्मा को सर्वज्ञ स्वीकार करना नितान्त भूल भरी बात सिद्ध होती है, अतः श्रीभगवान् राग रूपी दोष से भी रहित हैं। अन्यथा जब सर्वज्ञ प्रभु भी राग युक्त स्वीकार किये जायेंगे तब अस्मदादि व्यक्तियों में और उनमें विशेषता ही क्या रही? तथा यावन्मात्र संसार में अकृत्य कर्म हैं; रागी पुरुष उन सब को कर डालता है। जब अकृत्य कार्य में रागी

हो जाता है। क्योंकि-जैसे कोई व्यक्ति जब दीपक के द्वारा प्रकाश करने की इच्छा रखता है तो उसको उस प्रकाश के सहकारी कतिपय अन्य पदार्थों के एकत्र करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इतना किए जाने पर भी वह दीपक का प्रकाश सादि सान्त पद वाला होता है, वा ह्रस्व वा दीर्घ तथा अल्प वा महत् प्रकाश का करने वाला होता है, परन्तु सूर्य को प्रकाश के लिये किसी भी सहकरी पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और नां ही वह प्रकाश द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सान्त पद को धारण करने वाला होता है। नां ही वह प्रकाश अल्प वा महत्, ह्रस्व वा दीर्घ होता है; किन्तु एक रसमय होता है, ठीक उसी प्रकार जो रागादि द्वारा जीवों की रक्षा की जाती है, वह तो दीपक के प्रकाश के तुल्य होती है; परन्तु जो वीतराग भाव से जीवों की रक्षा होती है, वह सूर्य के प्रकाश के तुल्य एक रसमय होती है। क्योंकि-श्रीवीतराग प्रभु तो एकेंद्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के लिये सामान्यतया रक्षा का उपदेश करते हैं, परन्तु रागी आत्मा अपने स्वार्थ को मुख्य लेकर रक्षा करने में कटिबद्ध होते हैं। अतएव श्रीभगवान् का रक्षा करना स्वाभाविक गुण होता है, इस लिये वे कर्मों का बंधन नहीं करते, अपितु उक्त क्रियाओं से नामादि कर्मों की प्रकृतियां क्षय हो जाती हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि-जब उनका रक्षा करना स्वाभाविक गुण है, तो फिर वे अब जगत् वासी दुःखित जीवों की अपनी शक्ति द्वारा रक्षा क्यों नहीं करते? इस शंका का समाधान यह है कि-वे तो शास्त्रों द्वारा प्राणी मात्र की सदैव रक्षा करते रहते हैं। यावन्मात्र अहिंसा का सिद्धान्त है वह सब प्राणी मात्र की रक्षा कर रहा है, और उक्त सिद्धान्त के प्रकाशक श्री अर्हन् देव ही हैं। अतएव वे सदैव उपकार करते रहते हैं, तथा जो श्रीभगवान् ने कर्मों के फल प्रतिपादन किये हैं, यही उनका परमोपकार है। क्योंकि उन कर्मों के फलों को सुनकर अनेक आत्माएं अपना कल्याण कर सकती हैं, और कर रही हैं यह सिद्धान्त विद्वानों द्वारा माना गया है कि-जैन धर्म के संदेश से ही जगत् में शान्ति की स्थापना हो सकती है। यद्यपि अन्य मतावलम्बियों ने भी दया का कुछ प्रचार किया है, परन्तु जिस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से जैन धर्म ने दयाका प्रचार किया है उस प्रकार वादियों ने दया के स्वरूप को कभी सुना भी नहीं तथा जैन धर्म ने एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सम भाव से दया का उपदेश किया है। वादियों ने उस स्वरूप को समझा भी नहीं। सो धर्म-प्रचार द्वारा श्रीभगवान् ने अनन्त प्राणियों पर उपकार किया है और इसी उपकार से भव्य प्राणी अपना कल्याण किये जा रहे हैं सो श्रीभगवान् अपने पवित्र उपदेश द्वारा सदैव उपकार करते रहते हैं। श्रीभगवान् ऊपर ३४ अतिशय ३५ वचनातिशय और १८ अष्टादश दोषों से रहित, होते हुए मुख्य १२ द्वादश गुणों के

लाभ उठाते हैं: क्योंकि-जब श्रीभगवान् के आगमन का पता उक्त वादित्र द्वारा लग जाता है तब अनेक भव्य प्राणी श्रीभगवान् की वाणी के द्वारा अपना कल्याण करते हैं।

८ आतपत्र—देवते आकाश में खड़े हुए श्रीभगवत् के शिर पर तीन छत्र करते हैं। जिस से भव्य प्राणियों को यह सूचित किया जाता है कि-श्रीभगवान् त्रैलोक्य के स्वामी हैं।

यह आठ प्रातिहार्य श्रीभगवान् के पुण्योदय से प्रकट होते हैं और ज्ञानातिशय १ पूजातिशय २ वागतिशय ३ तथा अपायागमातिशय ४ यह चारों अतिशय मिला कर श्रीभगवान् के मुख्यतया द्वादश गुण होते हैं तथा अनंत-ज्ञान, १ अनंतदर्शन, २ अनंत चारित्र, ३ और अनंत बलवीर्य ४ यह चारों गुण मिला कर श्रीभगवान् के मुख्यतया द्वादश गुण होते हैं। इस पृथ्वी मंडल में श्रीभगवान् अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्राणी मात्र का कल्याण करते रहते हैं, और जिन के अनंत गुण होने से अनंत नाम कहे जा सकते हैं; तथा जिनसहस्रादि स्तोत्रों में श्रीभगवान् के १००० नाम वर्णन किये गए हैं। भव्य प्राणी श्रीभगवान् के अनेक शुभ नामों से अपना कल्याण कर सकते हैं, और वे शुभ नाम आध्यात्मिक प्रकाश के लिये एक मुख्य साधन बन जाते हैं। जैसे "जिन ध्यान" करते हुए फिर वर्ण-विपर्यय के करने से "निज ध्यान' हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक नाम आध्यात्मिक प्रकाश के लिये कार्य साधक हो जाता है। जब उन नामों के कारण आध्यात्मिक प्रकाश ठीक हो गया, तब व्यवहार की अपेक्षा से उनका किया हुआ प्रकाश ही कहा जाता है। जैसे चक्षुरिंद्रिय के होने पर भी वस्तु के देखने के लिये प्रकाश सहकारी कारण किसी अपेक्षा से माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार श्रीभगवान् के गुणानुवाद के कारण से जो प्रकाश हुआ है, वह निमित्त कारण होने से उन्हीं का उपकार माना जा सकता है। क्योंकि-यह बात स्वाभाविक सिद्ध है कि-जिस आत्मा का जिस प्रकार का "ध्येय" होगा प्रायः उस आत्मा में फिर उसी प्रकार के गुण प्रगट होने लग जाते हैं। जैसे कि-किसी विषयी आत्मा का "ध्येय" एक युवती होती है, तो फिर वह विषयी आत्मा उस 'ध्येय के माहात्म्य से विषय वासना में उत्कट भाव रखने लग जाता है। इतना ही नहीं किन्तु फिर वह अपनी इच्छा पूर्ति करने के लिये नाना प्रकार की योग्य और अयोग्य क्रियाओं में प्रवृत्ति करने लग जाता है. ठीक उसी प्रकार जिस आत्मा का "ध्येय" वीतराग प्रभु होते हैं उस आत्मा के आत्म-प्रदेशों से राग और द्वेष के भाव हट कर समता भाव मे आने लग जाते हैं। क्योंकि-फिर वह आत्मा वीतराग पद के प्राप्त करने की चेष्टाएं करने लग

१ अर्हन्–पु. चतुस्त्रिंदतिशयान् सुरेन्द्रादिकृतां पूजां वा अर्हति इति अर्हन् मुगद्विपार्हः सन्निशतुस्तुत्य इति शप्रत्ययः अरिहननात् रजो हननात् रहस्याभावाच्चेति पृषोदरादित्वात् अर्हन् "—अद्भुत रूप आदि चौंतीस अतिशयों के योग्य होने से और सुरेन्द्र निर्मित पूजा के योग्य होने से तीर्थंकर का नाम अर्हन् है मुगद्विपादि जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र से यह अर्हन् शब्द सिद्ध होता है। अब दूसरी रीति से भी अर्हन् शब्द का अर्थ दिखलाते हैं। जैसे कि-अष्ट कर्म रूप वैरियों के हनने से और इस जगत् में उन के ज्ञान के आगे कुछ भी गुप्त नहीं रहने से उस ईश्वर परमात्मा तीर्थंकर का नाम अर्हन् है।

२ जिनः–पु. जयति रागद्वेषमोहादिशत्रून् इति जिनः,—राग द्वेष महामोह आदि शत्रुओं को जीतने से उस परमात्मा का नाम जिन है।

३ पारगतः–पु. संसारस्य प्रयोजनजातस्य पारं कोऽर्थः अंत अगमत् इति पारगतः"—संसार समुद्र के पार जाने से और सब प्रयोजनों का अन्त करने से उस परमात्मा का नाम पारगत है।

४ "त्रिकालवित्–पु. त्रीन् कालान् वेत्ति इति त्रिकालवित्"—भूत, भविष्य, वर्त्तमान, इन तीन कालों में होने वाले पदार्थों का जानने वाला होने से उस ईश्वर परमात्मा का नाम त्रिकालवित् है।

५ क्षीणाष्टकर्मा–पु. क्षीणानि अष्टौ ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि यस्य इति क्षीणाष्टकर्मा—जिसके ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्म क्षीण होगये हैं उस परमात्मा का नाम क्षीणाष्टकर्मा है।

६ परमेष्ठी–पु. परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात् तिकिदिति इनि प्रत्यये भीरूष्ठानादित्वात् षत्वं सप्तम्या अलुक् च,—परम उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन चारित्र में स्थित होने से ईश्वर परमात्मा का नाम परमेष्ठी है।

७ अधीश्वरः–पु. जगतामधीष्टे इत्येवं शीलोऽधीश्वरः स्थेशभासपिसकसोवरच्" इतिवरच्—जगज्जनों को आश्रय भूत होने से उस परमात्मा का नाम अधीश्वर है।

८ शम्भुः–पु. शं शाश्वतं सुखं भावयति इति शम्भुः" शंसंस्वयंविप्रोदुवो डुरिति ड्रुः—सनातन सुख के समुदाय में होने से ईश्वर परमात्मा का नाम शम्भु है।

९ स्वयंभूः–पु. स्वयं आत्मना तथा भव्यत्वादिसामग्री-परिपाकात् नतु परोपदेशात् भवति इति स्वयंभूः—अपनी भव्यत्व की स्थिति पूर्ण होने से स्वयमेव उत्पन्न होता है। इसलिये उस ईश्वर परमात्मा का नाम स्वयंभू है।

१० भगवान्–पु भग. कोऽर्थः जगदैश्वर्यं ज्ञानं वा अस्ति अस्य इति भगवान्"

२१ देवाधिदेवः-पु. देवानामप्यधिदेवो देवाधिदेवः-देवताओं का भी देव होने से ईश्वर का नाम देवाधिदेव है।

२२ बोधिदः-पु. बोधि. जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तां ददाति इति बोधिदः—जिनप्रणीत शुद्ध धर्मरूप बोधि बीज का देने वाला होने से ईश्वर का नाम बोधिद है।

२३ पुरुषोत्तमः-पु. पुरुषाणां उत्तमः पुरुषोत्तमः-पुरुषों के बीच सर्वोत्तमता को धारण करने वाला होने से ईश्वर का नाम पुरुषोत्तम है।

२४ वीतरागः-पु. वीतो गतो रागोऽस्मात् इति वीतरागः-अंगनादि के राग से रहित होने के कारण परमात्मा का नाम वीतराग है।

२५ आप्तः। पु. जीवानां हितोपदेशदातृत्वात् आप्त इव आप्तः—जीवों के प्रति हितोपदेश करने वाला होने से ईश्वर का नाम आप्त है, इस प्रकार श्रीअर्हन् देव के सार्थक अनेक नाम भव्य जनों के पाठ के लिये कथन किए गए हैं तथा इन नामों के द्वारा आत्म-विकाश करने के लिये भक्त जनों को परम सहायता प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार जीवन्मुक्त श्रीअर्हन् देवों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा भी देव पद मे गर्भित हैं। क्योंकि-सिद्ध परमात्मा अजर, अमर, पारंगत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, वे ज्ञानात्मा द्वारा सर्व-व्यापक हो रहे हैं। यद्यपि द्रव्यात्मा उनका लोकाग्र भाग मे स्थित है, परन्तु ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा और उपयोगात्मा द्वारा वे लोकालोक में व्यापक है अतः सर्व पदार्थ उन के ज्ञान में व्याप्य हो रहे हैं। वे अनंत गुणों के धारी हैं केवल अर्हन् देव शरीरधारी होते हैं परन्तु सिद्ध भगवान् अशरीरी हैं। यदि ऐसे कहा जाय कि-सिद्ध परमात्मा और अर्हन् देवों मे जब उक्त गुणों की साम्यता है तो फिर उनको अर्हन् देवों से पृथक् क्यों स्वीकार किया गया है? इस के उत्तर में कहा जाताहै कि-अर्हन् देव तो ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, मोहनीय ३, और ४ अन्तराय इन चार कर्मों से मुक्त होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं, परन्तु सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, वेदनीय ३, मोहनीय ४, आयुष्य ५, नामकर्म ६, गोत्र कर्म ७ और अन्तराय कर्म ८, उक्त आठों कर्मों से रहित होते है। वे सदा निजानंद में निमग्न रहते हैं। योगी जन जब अंतिम श्रेणी पर पहुंचते हैं, तब उन्हीं को ध्येय बना कर अपने आत्मा की शुद्धि करते है। कारण कि-अरूपी आत्मा अपने ज्ञान द्वारा ही अरूपी पदार्थों को देख वा जान सकता है। अतएव सिद्ध आत्मा परम सुख की राशि हैं।

प्रश्न—हमने तो यह सुना हुआ है कि-जैन मत मे जो चौबीस तीर्थंकर देव हुए हैं, वे ही जैनों के ईश्वर परमात्मा है। इन के अतिरिक्त कोई भी ईश्वर

इस लिये जीव और अजीव यह दोनों पदार्थ भी अनादि अनन्त हैं।

प्रश्न—हे भगवन्! क्या पहिले भवसिद्धिक (मोक्ष जाने वाले) जीव हैं या अभवसिद्धिक (मोक्ष गमन के अयोग्य) जीव हैं?

उत्तर—हे रोह! भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक ये दोनों प्रकार के जीव भी अनादि काल से चले आते हैं; कारणकि भव्य और अभव्य ये स्वाभाविक भाव वाले हैं, परन्तु विभाव परिणाम वाले नहीं हैं।

प्रश्न—हे भगवन्! क्या पहिले सिद्धि है या असिद्धि?

उत्तर—हे रोह! अकृत्रिम होने से मुक्ति और असुक्ति ये भी अनादि हैं।

प्रश्न—हे भगवन्! पहिले सिद्धात्माएं हैं, या असिद्धात्माएं अर्थात् पहिले सिद्ध परमात्मा है या संसारी आत्माएं हैं?

उत्तर—हे रोह! सिद्ध और ससारी आत्माएं ये दोनों ही अनादि भाव से चले आरहे हैं; अतः इनको पूर्व या पश्चात् भावी कदापि नहीं कहा जा सकता। सो जब जैन मत संसार और मोक्ष पद को अनादि स्वीकार करता है तब यह किस प्रकार कहा जासकता है कि-उक्त चौवीस तीर्थंकर ही जैनों के परमात्मा, हैं अन्य कोई भी जैन मत में सिद्ध (ईश्वर) नहीं माना गया है। हां जैन मत यह अवश्य मानता है कि—

रागत्तेण साईया अपज्जवसियाविय पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया विय।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ गाथा-६६

अर्थ—एक सिद्ध की अपेक्षा मोक्ष पद सादि अनन्त कहा जाता है और बहुतों की अपेक्षा अनादि अनन्त है अर्थात् जब हम किसी एक मोक्ष गत जीव की अपेक्षा विचार करते हैं: तब हमको मोक्ष-विषय सादि अनन्त पद मानना पड़ता है। कारण कि-जिस काल मे वह अमुक व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त हुआ उस काल की अपेक्षा उसकी आदि तो है परन्तु अपुनरावृत्ति होने से उसे फिर अनन्त कहा जाता है, परंच जब सिद्ध पद को देखते हैं अर्थात् बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से जब विचार किया जाता है तब सिद्ध पद अनादि अनन्त माना जाता है। कारण कि-जिस प्रकार संसार अनादि है उसी प्रकार सिद्ध पद भी अनादि है तथा अनन्त सिद्ध होने से गुणों की अपेक्षा किसी नय के मत से एक सिद्ध भी कहा जासकता है क्योंकि—भेद भाव नहीं होता।

"जत्थ एगो सिद्धो तत्थ अणन्त खय भवविमुक्को" इत्यादि।

अर्थ-जहां पर एक सिद्ध है वहां पर अनंत सिद्ध विराजमान हैं। जिस प्रकार एक पुरुष के अन्तर्गत नाना प्रकार की भाषाएं निवास करती हैं जैसे

की अपेक्षा से ३१ गुण उन में विशेषतया होते है। आत्मा ज्ञानस्वरूप और अनन्त गुणों का समुदाय रूप है, परन्तु कर्म उपाधि भेद से वे गुण उसके आवरण युक्त हो रहे है. जैसे कि-सूर्य प्रकाशरूप होने पर भी वादलों के प्रयोग से आवरणीय हो जाता है, ठीक तद्वत् आत्म-प्रकाश की भी यही दशा है, जव वे आवरण दूर हो जाते है तव गुण रूप समुदाय प्रकट हो जाता है, जिस कारण से फिर उसे सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अनंत शक्ति-संपन्न इत्यादि शुभ नामों से कीर्त्तन किया जाता है। सो वे गुण निम्न प्रकार से वर्णन किये गए है. जैसे कि-ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां है वे सव सिद्ध परमात्मा के क्षय रूप है यथा आभिनिवोधिक ज्ञान के २८ भेद है; सो उन पर जो कर्म-परमाणुओं का आवरण आया हुआ होता है, वह सिद्ध परमात्मा के क्षय रूप है। १ श्रुतज्ञान के १४ भेद है उनका आवरण भी क्षय है २। अवधि ज्ञान के ६ भेद है, उनका आवरण भी क्षय रूप है ३। मन पर्यवज्ञान के २ भेद है, उन के भी आवरण क्षय रूप ही है ४। केवलज्ञान का केवल एक ही भेद है, उस का भी आवरण क्षय हो गया है ५। जव ज्ञानावरणीय कर्म की पांचों प्रकृतियों के आवरण दूर हो गए तव उस जीव को सर्वज्ञ कहा जाता है। फिर दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियां है। उन के आवरणों के क्षय हो जाने से जीव सर्वदर्शी वन जाता है। जैसे कि-चक्षुदर्शन का जो आवरण है वह भी सिद्ध परमात्मा के क्षय है ६। चक्षुवर्जित श्रोत्रेन्द्रियादि इन्द्रियों के जो आवरण है वे भी क्षय है। इसलिये अचक्षुदर्शन भी उन का निर्मल है ७। अवधि-दर्शन का जो आवरण है, वह भी निर्मूल हो गया है ८। फिर केवलदर्शन का आवरण भी सर्वथा जाता रहा है ९। सुख पूर्वक शयन करना इस प्रकार की निद्रा भी जाती रही है १०। सुख पूर्वक शयन करने के पश्चात् फिर दुःख पूर्वक जाग्रत अवस्था मे आना वह दशा भी जाती रही है ११। वैठे वैठे ही निद्रागत हो जाना इस प्रकार की भी दशा उन की नहीं है १२। तथा जिस प्रकार प्रायः वहुत सा पशुवर्ग चलता हुआ निद्रागत हो जाता है, वह दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं है १३। वा अत्यन्त घोर निद्रा जिस के प्रवल उदय से वासुदेव का अर्द्धवल उस दशा मे प्राप्त हो जावे तथा अत्यन्त भयानक दशा जीव की निद्रा की दशा मे ही हो जावे वह दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं है १४। सो इस कार्य के न होने से उन्हे सर्वदर्शी कहा जाता है, कारण कि-वह सर्वथा जाग्रतावस्था मे ही होते है जिस प्रकार सूर्य किसी भी दशा मे अंधकार देने वाला नहीं माना जा सकता, ठीक तद्वत् सिद्ध परमात्मा भी सर्व काल मे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी रहता है। जव वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियां क्षय हो गई तव सिद्ध परमात्मा अक्षय सुख के अनुभव करने वाले कहे जाते है। क्योंकि-वेदनीय कर्म

सन्मुख दीपक आदि पदार्थों का प्रकाश तुलना करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार सिद्धों के सुख के सामने अन्य सुख क्षुद्र प्रतीत होते है, तथा जिस प्रकार एक अपूर्व अर्थ के धारण करने से जो आनन्द अनुभव होने लगता है उस प्रकार का आनन्द खाद्य पदार्थों में नहीं देखा जाता। अतः सिद्ध भगवान् अनंत सुखों के धनी कथन किए गए है। सिद्ध पद की प्राप्ति के लिये प्रत्येक प्राणी को प्रयत्नशील होना चाहिए, जिस से आत्मा कर्म-कलंक से रहित सिद्ध पद की प्राप्ति कर सके। अतएव सिद्ध-स्तुति और सिद्ध-भक्ति अवश्यमेव करनी चाहिए।

प्रश्न—सिद्ध स्तुति करने से क्या लाभ होता है?

उत्तर—उनके पवित्र गुणों में अनुराग उत्पन्न होता है।

प्रश्न—गुणों में अनुराग करने से क्या फल होता है?

उत्तर—गुणानुराग करने से निज आत्मा भी उन्हीं गुणों के ग्रहण करने के योग्य हो जाती है, जिस से आत्म-कल्याण होता हैं।

प्रश्न—क्या सिद्ध परमात्मा की स्तुति करने से वे प्रसन्न हो जाते है?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा वीतराग पद के धारण करने वाले हैं, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा निज गुण में निमग्न होने से सदा सुख स्वरूप है। अतः वह किसी पर प्रसन्न और अप्रसन्न कभी नहीं होते। उनकी स्तुति और गुणों में अनुराग करने से अवगुण दूर होकर आत्मीय गुणों का प्रकाश होता है।

प्रश्न—स्तुति करने से चित्त-शुद्धि किस प्रकार हो सकती है?

उत्तर—जब उनके गुणों मे अनुराग किया जायगा, तब चित्त की प्रसन्नता अवश्यमेव हो जायगी, जिस प्रकार वस्तु का स्वभाव होने से मंत्रादिपद सर्पादि के विष उतारने में समर्थता रखते हैं तथा जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न इच्छुक की इच्छापूर्ति करने में सहायक होता है, ठीक उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा की स्तुति भी आत्मा मे शान्ति का संचार करने वाली होती है।

प्रश्न—सिद्ध परमात्मा की स्तुति करने से जब आत्मा मे शान्ति का संचार हो गया तब क्या आत्मा सिद्ध परमात्मा को अपना ध्येय बना सकता है?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा जिस आत्मा का ध्येय रूप हो जायगा वह आत्मा भी सिद्ध पद की प्राप्ति के योग्य अवश्यमेव हो जायगा।

प्रश्न—सिद्ध भगवान् की भक्ति करने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर—परमात्मा की भक्ति करने से पूर्वसंचित कर्म क्षय हो जाते हैं, और बहुमान से गुण प्रकट होते हैं, फिर कर्म रूपी शत्रु भक्ति द्वारा दग्ध

उत्तर--जिस पौद्गलिक पदार्थ की जिस को इच्छा हो उसके मिल जाने से ही उस आत्मा को क्षण भर के लिये समाधि आ सकती है। परन्च वह समाधि क्षण स्थायी होने से त्याज्य है अतएव द्रव्यसमाधि की निवृत्ति करने के लिये ही प्रधान और वर पद दिये गए हैं, जिस से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि-जो परम ज्ञान की समाधि है, उसी की ही मुझे प्राप्ति हो।

प्रश्न—जब सिद्ध परमात्मा से आरोग्य बोधिलाभ और सब से बढ़ कर ज्ञान की समाधि की प्रार्थना की जाती है, तो क्या यह निदानकर्म नहीं है ?

उत्तर—इन पवित्र भावनाओं को निदान कर्म नहीं कहा जाता, कारण कि-यह प्रार्थना वा भावना कर्मबन्धन का कारण नहीं है, अतएव यह निदान-कर्म नहीं है, कर्मबन्धन के कारण-मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, दुष्टयोग, वा प्रमादादि प्रतिपादन किये गए हैं। उक्त भावना में उक्त कारणों के न होने से इसे निदान कर्म नहीं कहा जाता।

प्रश्न—यदि निदानकर्म नहीं है तो क्या इस प्रकार के पाठ करने से आरोग्यादि पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है ?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा तो वीतराग पद में स्थित होने से राग और द्वेष से रहित हैं अतः वे तो फल प्रदाता हो ही नहीं सकते। तथा यदि प्रार्थना द्वारा ही वह शुभ कर्म के फल दे सकते हैं तो फिर कर्मों का फल क्या हुआ ? अतएव उक्त प्रार्थना से चित्त शुद्धि होती है और असत्यामृषा भाषा का वाक्य होने से ही उक्त पाठ युक्ति संगत माना जाता है।

प्रश्न—क्या प्रार्थना करने से परमात्मा फल न देगा ?

उत्तर—परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने से फल-प्रदाता नहीं है; अतएव वह फलप्रदाता नहीं माना जाता।

प्रश्न—तो फिर प्रार्थना करने से ही क्या लाभ है ?

उत्तर—चित्त की शुद्धि, आस्तिकता तथा अपने जीवन को पवित्र और पुरुषार्थी बनाना एवं धार्मिक बल उत्पादन करना, जिस से अपना कल्याण करते हुए अन्य अनेक भव्यात्माओं का कल्याण हो।

प्रश्न—जब सिद्ध परमात्मा की भक्ति की जाती है तब क्या उस समय जीव को समाधि की प्राप्ति हो जाती है ?

उत्तर—हां! उस आत्मा को भक्ति रस में निमग्न होने से उन के गुणों में अत्यन्त अनुराग होता है। उस अनुराग के कारण ही वह जीव भक्ति रस में

—पदार्थों का समभाव द्वारा एकत्व हो जाना, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं।

करते हैं। अपने जीवन को भी व्युत्सर्जन कर देते हैं, परन्तु परोपकार के मार्ग से वे किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होने पाते, अतएव वे ही देव कहला सकते हैं। अनादि काल से पांच भारत वर्ष और पांच ऐरवर्त्त वर्ष क्षेत्रों में दो प्रकार का काल चक्र वर्त्त रहा है. उत्सर्प्पिणी काल और अवसर्प्पिणीकाल। प्रत्येक काल दश कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण का होता है, तथा प्रत्येक काल के छः भाग होते हैं, सो दोनों कालों के मिलने से २० कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण का एक कालचक्र होता है। विशेष केवल इतना ही है कि-उत्सर्प्पिणी काल में प्रिय पदार्थों का प्रादुर्भाव और अप्रिय पदार्थों का शनै २ ह्रास होता जाता है, अन्त में जीवों को पौद्गलिक सुख की पूर्णतया प्राप्ति हो जाती है।

इस से विपरीत भाव अवसर्प्पिणी काल का माना गया है, जिस मे पुद्गल सम्बन्धी सुख का ह्रास होता हुआ शनैः २ जीव परम दुःखमयी अवस्था में हो जाते हैं। इस प्रकार इस लोक मे काल चक्रों का चक्र लगा रहता है। अनादि नियम के अनुकूल प्रत्येक काल चक्र में २४ तीर्थंकर देव १२ चक्रवर्ती नव बलदेव नव वासुदेव और नव ही प्रतिवासुदेव ये महापुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं। स्थानाङ्ग सूत्र में तीन प्रकार के उत्तम पुरुषों का विवरण किया गया है। जैसे कि-धर्मोत्तम पुरुष १ भोगोत्तम पुरुष २ और कर्मोत्तम पुरुष ३। सो धर्मोत्तम पुरुष तो श्रीअर्हन् देव होते हैं, जो धार्मिक क्रियाओं को प्रतिपादन करके सदैव काल जीवों का कल्याण करते रहते हैं। भोगोत्तम पुरुष चक्रवर्त्ती होते हैं, जिनके समान पौद्गलिक सुख के अनुभव करने वाली अन्य व्यक्तियां उस समय नहीं होतीं। कर्मोत्तम पुरुष राज्य धर्म के नानाप्रकार के नियमों के निर्माता होते हैं, वे वासुदेव की पदवी को धारण करके फिर साम, दाम, भेद और दण्ड इस प्रकार की नीति की स्थापना करके राज्य-धर्म को एक सूत्र में बांधते हैं। अर्द्ध भारत वर्ष मे उनका एक छत्रमय राज्य होता है, क्योंकि-यावत्काल पर्यन्त एक छत्रमय राज्य नहीं होता, तावत्काल पर्यन्त प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये असमर्थता रखती है। अतएव वासुदेवों को कर्मोत्तम पुरुष माना गया है।

इस काल के पूर्व जो उत्सर्प्पिणी काल व्यतीत होचुका है, उसमे निम्न लिखितानुसार २४ तीर्थंकर देव हुए हैं—उनके शुभ नाम ये हैं। केवलज्ञानी १, निर्वाणी २, सागर ३, महायश ४, विमल ५, सर्वानुभूति ६, श्रीधर ७, दत्ततीर्थकृत् ८, दामोदर ९, सुतेजाः १०, स्वामी ११, मुनिसुव्रत १२, सुमति १३, शिवगति १४, अस्ताग १५, निमीश्वर १६, अनिल १७, यशोधर १८, कृतार्थ १९, जिनेश्वर २० शुद्धमति २१ शिवकर २२ स्यन्दन २३ और संप्रति २४: परंच जो आगामी काल में आनेवाली उत्सर्प्पिणी मे भी २४ तीर्थंकर देव होंगे, उनके शुभ नाम

उसी समय से माता की बुद्धि सुनिश्चित होगई थी· अत श्रीभगवान् का नाम सुमति हुआ। निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्यपद्मप्रभ यद्वा पद्मशयेन दे हदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति वा पद्मप्रभ· विषय-वासना रूपी कीचड़ से रहित और पद्म के समान प्रभा है जिस की उसी का नाम पद्मप्रभ है। तथा पद्मशय्या मे शयन करने का दोहद उत्पन्न हो गया था वह देवता द्वारा पूर्ण कियागया तथा पद्मकमल के समान जिन के शरीर का वर्ण था इसी से श्रीभगवान् का नाम पद्मप्रभ हुआ शोभनो पार्श्वावस्य सुपार्श्व यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वाभूदति सुपार्श्व शोभनीय दोनों तरफ है जिन के वह सुपार्श्व है अथवा जब श्रीभगवान् गर्भ में थे, तब उसी समय से माता के दोनों तरफ शोभनीय हो गए थे अतः श्रीभगवान् का नाम सुपार्श्व हुआ। चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्य-लेश्याविशेषोऽस्य चन्द्रप्रभ तथा गर्भस्थे देव्या चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभ· चन्द्रमा के समान है सौम्यलेश्या जिन को वही चद्रप्रभ है तथा जब श्रीभगवान् गर्भ मे आए थे तब माता को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था। अतएव श्रीभगवान् का नाम चन्द्रप्रभ हुआ। शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिर्यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यऽप्येवमिति सुविधि सुन्दर है विधि विधान जिस का वह सुविधि तथा जब श्री भगवान् गर्भ में थे तब माता अत्यन्त सुन्दर विधि विधान करने वाली हो गई थी, अत· श्रीभगवान् का नाम सुविधि रक्खा गया। सकलसत्वसंतापहरणात् शीतल तथा गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतल सकल जीवों का सन्ताप हरने से शीतल तथा जब श्रीभगवान् गर्भ में स्थित थे, तब श्रीभगवान् के पिता को पित्तदाह का रोग था, जो वैद्यों द्वारा भी शान्त न हो सका था, तब श्रीभगवान् की माता ने राजा के शरीर को स्पर्श किया, तब रोग शान्त हो गया। इस प्रकार गर्भस्थ जीव का माहात्म्य जान कर श्रीभगवान् का नाम शीतल रक्खा गया है। श्रेयासवसावस्य श्रेयास पृषोदरादित्वात् यथा गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वदेवताधिष्ठितशय्या जनन्याक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयास। सर्व जगत्-वासी जीवों के हित करने से श्रीभगवान् का नाम श्रेयांस तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे, तब श्री भगवत् के पिता के घर मे एक देवाधिष्ठित शय्या थी, उस पर कोई भी बैठ नहीं सकता था यदि बैठता था तो उसको असमाधि उत्पन्न हो जाती थी, किन्तु गर्भ के प्रभाव से रानी जी को उस शय्या पर शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ, तब वह उस शय्या पर शयन कर गई। तब देवता ने कोई भी उपसर्ग नही किया अतः श्रेयांस नाम स्थापित हुआ। वसुपूज्यनृपतेरयं वासुपूज्यः यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् वसु हिरण्य तेन वासवो राजकुल पूजितवानिति वसवो देवविशेषास्तेषा पूज्यो वा वसुपूज्य प्रज्ञायाणि वासुपूज्य· जो देवतों द्वारा पूजनीय है वही वासुपूज्य है तथा वसुपूज्य राजा का जो पुत्र है, उसी का नाम वासुपूज्य है तथा जब श्रीभगवान् गर्भ

मिति मुनिः "मनेरुदेता चास्य वा" (उणा० ६ १२) इति इ प्रत्यये उपान्त्यस्योत्वं शोभनानि वृत्तान्यस्य सुव्रत मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रत तथा गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रत तीन काल में जो जगत् को मानता है उसी का नाम मुनि है तथा सुन्दर हैं व्रत जिस के, सो दोनों पदों के एकत्र करने से मुनिसुव्रत शब्द बन गया तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब भगवन्त की माता मुनि के समान सुन्दर व्रत वाली हो गई थी इसी कारण से श्रीभगवान् का नाम सुव्रत रक्खा गया। परीपहोपसर्गादिनामनात् नमेस्तु वा (उणा-६ १३) इति विकल्पनेोपोन्त्येकारभाव पक्षे नमिः यद्वा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैः अपि प्रणतिः कृतेति नमि। परीपहादि वैरियों को नमन करने से नमि तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास मे थे तब वैरी राजे भी आकर श्रीभगवान् के पिता को नमस्कार करने लग गये इसी कारण से नमिनाथ नाम संस्कार किया गया। धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः नेमीतीन्नन्तोऽपि दृश्यते यथा वन्दे सुव्रतनेमिनौ इति। धर्म चक्र की धारा के समान वह नेमि है तथा जब श्री भगवान् गर्भावास मे थे तब माता ने अरिष्टरत्नमय नेमि (चक्र धारा) आकाश मे उत्पन्न हुई देखी इसी लिये अरिष्टनेमिनाथ नाम संस्कार किया गया तथा च प्राकृतपाठः– गब्भगए तस्स मायाए रिठ्ठरयणामउ महति महालउनेमि उप्पयमाणो सुमिणे दिठ्ठोत्ति तेण से रिठ्ठ नेमित्ति नाम कयंति" अर्थ प्राग् लिखा गया है स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः तथा गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयम् इति मत्वा पश्यतीतिनिरुक्तात् पार्श्व पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरो यक्षस्तस्य नाथ पार्श्वनाथ भीमोभीमसेन इति न्यायाद् वा पार्श्व सर्वभावों को जो ज्ञान से जानता है उसे ही पार्श्व कहते हैं, सो यह लक्षण तो सर्व तीर्थंकरों में संघटित होता है, परंच जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब श्रीभगवान् की माता ने अपनी शय्या पर बैठ अंधकार म जाते हुए सूर्य को देख लिया; तब माता ने विचार किया यह सब गर्भ का प्रभाव है तथा पार्श्व नाम वाला यक्ष श्रीभगवान् की अत्यन्त भक्ति करता था इसी कारण पार्श्वनाथ नाम हुआ। विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः विशेषतया जो कर्मों को प्रेरते हैं इसी कारण उन्हें वीर कहा जाता है तथा महा उपसर्गों के सहन करने से श्रीभगवान् का नाम श्रीश्रमण भगवान् महावीर प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार वर्त्तमान अवसर्पिणी काल मे मोक्ष को प्राप्त हुए २ चतुर्विंशति तीर्थंकरों के व्युत्पत्ति युक्त नामोत्कीर्त्तन कथन किये गए हैं। अब जिन २ तीर्थंकरों के अपर नाम भी है उन का विवरण किया जाता है। जैसे कि– ऋषभो वृषभ वृषभ का लक्षण होने से ऋषभ देव को वृषभदेव (नाथ) कहते हैं। श्रेयान् श्रेयास, सकल भुवन मे प्रशस्यतम होने से श्रेयांस को 'श्रेयान्" कहते हैं। स्यादनन्त जिदनन्तः अनन्त कर्मों के अंशों को जीतने से अथवा अनन्त ज्ञानादि के होने से

तीर्थंकर नाम	नगरी	जन्म	पिता	माता	लक्षण	दीक्षा तिथि	केवल ज्ञान नगरी	केवल ज्ञान तिथि	कुल
श्रीऋषभदेव	विनीता नगरी	चैत्र वदी ८	नाभि-कुलकर	मरुदेवी	वृषभ	चैत्रवदि ८	युरिमताल	फा व ११	इक्ष्वाकु
अजितनाथ	अयोध्या	माघ शु. ८	जितशत्रु	विजया	हस्ती	महा व ९	अयोध्या	पौष व ११	,,
संभवनाथ	श्रावस्ती	महा शु. १४	जितारि	सेना	अश्व	मृग. शु. १५	श्रावस्ती	का वै ११	,,
अभिनंदन	अयोध्या	माघ शु. २	संवरराजा	सिद्धार्थ	कपि	माघ शु १२	अयोध्या	पौ व १२	,,
सुमतिनाथ	अयोध्या	वैशाख शु. ८	मेघराजा	मंगला	क्रौंच पक्षी	वैशाख शु. ९	अयोध्या	चैत्र शु ११	,,
पद्मप्रभु	कौशुम्बी-	कार्त्ति व. १२	श्रीधर राजा	सुसीमा	पद्मकमल	कार्त्तिक व.१३	कौसुम्बी	चैत्र शु १५	,
सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	ज्येष्ट शु १२	प्रतिष्ट राजा	पृथ्वी माता	स्वस्तिकलक्षण	ज्येष्ट शु. १३	वाराणसी	फा व ६	,,
चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	पौष व.१२	महासेनराजा	लक्ष्मणा माता	चन्द्रलक्षण	पौष व. १३	चन्द्रपुरीनगरी	फा व ७	,,
सुविधिनाथ	काकंदी नगरी	मृग व. ५	सुग्रीव राजा	रामा राणी	मगरमत्स्य का	मृग. व ६	काकंदी नगरी	का शु ३	,,
शीतलनाथ	भद्दिलपुर	माघ व.१२	दृढ़रथ राजा	नंदा माता	श्रीवत्स	माघ व १२	भद्दिलपुर	पौष व १४	,,
श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	फा. व १२	विष्णु राजा	विष्णु माता	गैंड़ा का लक्षण	फाल्गुन व. १३	सिंहपुरी	माघ व ३	,,

अब नीचे श्री भगवन्तों की निर्वाण तिथियां वर्णन की जाती हैं यथाः—

तीर्थंकर देव	निर्वाणकाल
श्रीऋषभदेव जी	माघ कृष्णा १३
,, अजितनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, संभवनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, अभिनन्दन जी	वैशाख शुक्ला ८
,, सुमतिनाथ जी	चैत्र शुक्ला ६
,, पद्म प्रभु स्वामी	मार्गशीर्ष कृष्णा ११
,, सुपार्श्वनाथ जी	फाल्गुन कृष्णा ७
,, चन्द्रप्रभु जी	भाद्रपद कृष्णा ७
,, सुविधिनाथ जी	भाद्रपद शुक्ला ६
,, शीतलनाथ जी	वैशाख कृष्णा २
, श्रेयांस नाथ जी	श्रावण कृष्णा ३
,, वासुपूज्य स्वामी	आषाढ़ शुक्ला १४
,, विमलनाथ जी	आषाढ़ कृष्णा ७
,, अनंतनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, धर्मनाथ जी	ज्येष्ठशुक्ला ५
,, शान्ति नाथ जी	ज्येष्ठ कृष्णा १३
,, कुंथुनाथ जी	वैशाख कृष्णा १
,, अरनाथ जी	मार्गशीर्ष शुक्ला १०
,, मल्लिनाथ जी	फाल्गुन शुक्ला १२
,, मुनिसुव्रत स्वामी	ज्येष्ठकृष्णा ६
,, नमिनाथ जी	वैशाखकृष्णा १०
,, अरिष्टनेमि नाथ जी	आषाढ़ शुक्ला ८
,, पार्श्वनाथ जी	श्रावण शुक्ला ८
,, महावीर स्वामी जी	कार्त्तिक कृष्णा १५

सो तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचों ही कल्याण भव्य प्राणियों के लिये उपादेय हैं, और उक्त तिथियों मे धर्म-ध्यान विशेष करना चाहिए क्योंकि- जब देव का पूर्णतया स्वरूप जान लिया गया तब आत्म-शुद्धि के लिये देव की उपासना तथा देव को 'ध्येय' स्वरूप मे रख कर आत्म-विशुद्धि अवश्यमेव करनी चाहिए।

॥ इति श्री जैनतत्त्वकलिकाविकासे देवस्वरूपवर्णन नाम प्रथमा कलिका समाप्ता ॥

से धर्म की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि-जब धार्मिक शास्त्रों को सुनता ही नहीं तो भला फिर धार्मिक विषयों पर विचार किस प्रकार कर सकता है? अतएव धार्मिक विषयों को यदि विचार पूर्वक श्रवण किया जाय तब आत्मा को सद्-विचारों से धर्म की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्रतिपादन किया गया है, ठीक उसी प्रकार श्रवण और मनन से भी धर्मादि पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। यदि ऐसे कहा जाय कि-बहुत से आत्माओं ने भावनाओं द्वारा ही अपना कल्याण कर लिया है, इस लिये शास्त्र श्रवण की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर मे कहा जाता है कि-भावना श्रवण किये हुए ही पदार्थों की होगी क्योंकि-जब तक उसने प्रथम कल्याणकारी वा पापमय मार्ग को सुना ही नहीं तब तक कल्याणकारी मार्ग में गमन करना और पापकारी मार्ग से निवृत्त होना यह भावना होही नहीं सकती। अतः सिद्ध हुआ कि-जिन आत्माओं ने पूर्व किसी धार्मिक विषयों को श्रवण किया हुआ है, वे उनकी अनुप्रेक्षा पूर्वक विचार करते हुए अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो जाते हैं।

धर्म का श्रवण प्रायः धर्मदेवों के मुख से ही हो सकता है, इस लिये इस स्थान पर आचार्य उपध्याय और साधु ये तीनों धर्म देव हैं। इन के विषय मे कहते हैं। श्री तीर्थंकर देवों के प्रतिपादन किये हुए तत्वों के दिखलाने वाले, तथा उन के पद को सुशोभित करने वाले, गण के नायक, सम्यग् प्रकार से गण की रक्षा करने वाले, गण मे किसी प्रकार की शिथिलता आ गई हो तो उसको सम्यग् प्रकार से दूर करने वाले, इतना ही नहीं किन्तु मधुर वाक्यों से चतुर्विध श्रीसंघ को सुशिक्षित करने वाले, गच्छवासी साधु वर्ग वा आर्य वर्ग की सम्यग् प्रकार से रक्षा करने वाले श्री जिन-शासन के शृंगार स्तंभरूप, जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपनी दोनों आखों का आधार होता है, उसी प्रकार संघ मे आधार रूप, वाद लब्धि-सम्पन्न नाना प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान के धारण करने वाले अलौकिक लक्ष्मी के धारण करने वाले, इस प्रकार के गुणों से विभूषित श्री आचार्य महाराज के शास्त्रों मे ३६ गुण कथन किये गए हैं। जो उन गुणों से युक्त होते हैं, वे ही आचार्य पद के योग्य प्रतिपादन किये गए हैं, सो वे गुण निम्न लिखितानुसार हैं जैसे कि-

१ देश—आर्य देश मे उत्पन्न होने वाला यद्यपि धर्म पक्ष मे देश कुलादि की विशेष कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रायः आर्य देश मे उत्पन्न होने वाला जीव सुलभ-बोधि वा गांभीर्यादि गुणों से सहज मे ही विभूषित हो सकता है, तथा परम्परागत आर्यता आत्मविकास मे एक मात्र कारण बन जाती है जैसे कि-भारतवर्ष मे ३२ सहस्र देश प्रतिपादन किये गए हैं, परन्तु उन मे

जाति शुद्ध होनी चाहिए।

४ रूपवान्—शरीराकृति ठीक होने पर ही महाप्राभाविक पुरुष हो सकता है। क्योंकि-शरीर की लक्ष्मी दूसरों के मन को प्रफुल्लित करने वाली होती है: जैसे श्री केशीकुमार श्रमण के रूप को देख कर प्रदेशी राजा, और श्रीअनाथी मुनि के रूप को देख कर राजा श्रेणिक आश्चर्यमय हो गए। इतना ही नहीं किन्तु उन के मुख से वाणी को सुन कर धर्म पथ में आ गए। इस लिये आचार्य महाराज का शरीर अवश्यमेव सुडौल और सुन्दर होना चाहिए जिस से वादी और प्रतिवादी जन को विस्मय हो और वे धर्म पथ में शीघ्र आ सकें।

५ दृढसंहनन—जिस प्रकार शरीराकृति की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी प्रकार संहनन दृढ़ होना चाहिए। क्योंकि-यावत्काल पर्यन्त शरीर की समर्थता ठीक नहीं है, तावत्काल पर्यन्त भली प्रकार अध्ययन और अध्यापनादि क्रियाएं ठीक नहीं हो सकतीं। अतएव गच्छाधिपति के करणीय क्रियाओं के लिये दृढ़संहनन की अत्यन्त आवश्यकता है तथा उक्त गुण के विना शीत वा उष्णादि परीषह भी भली प्रकार सहन नहीं किये जा सकते। अतएव आचार्य में उक्त गुण अवश्य होने चाहिएं।

६ धृतिसंपन्न—साथ ही आचार्य में धैर्य गुण पूर्णतया होना चाहिए। क्योंकि-जब मन का साहस ठीक होगा तब गच्छ का भार भली प्रकार वह उठा लेंगे, कठोर प्रकृति वाले साधुओं का भी निर्वाह कर सकेंगे. क्योंकि-जब गच्छाधिपति न्याय मार्ग में स्थित होकर न्याय करने में उद्यत होता है, तब उस को पक्षी और प्रतिपक्षियों के नाना प्रकार के शब्द सुनने पड़ते हैं। सो यदि वे उक्त गुण युक्त होंगे तो उन शब्दों को सम्यक्तया सहन करके न्याय मार्ग से विचलित नहीं होंगे। यदि उन में धैर्यगुण स्वल्पतर होगा, तब लाभ के स्थान पर प्रायः हानि होगी। कारण कि-क्षणिक चित्त वाला आत्मा किसी कार्य के भी सिद्ध करने मे समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि यह गुण प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिए, परन्तु जो गच्छाधिपति हों उन्हें तो यह गुण अवश्यमेव धारण करना चाहिए।

७ अनाशंसी—अशन पानादि वा सुंदर वस्त्रादि की आशंसा (आशा) न करे, क्योंकि-जिस स्थान पर लोभ संज्ञा विशेष होती है वहां पर मोक्ष-मार्ग में विघ्न उपस्थित हो जाता है, तथा जब गणी लोभ के वश हो जायगा, तब अन्य भिक्षुओं को सन्मार्ग में लाना कठिन हो जायगा। यह नियम की बात है कि-जो आप भली प्रकार सुशिक्षित होगा वही अन्य व्यक्तियों को सुशिक्षित कर सकेगा। अतएव अनाशंस गुण आचार्य में अवश्यमेव होना चाहिए।

किये जासकें, उसी का नाम "स्थिरपरिपाटि" कहा जाता है तथा चरणकरणानुयोग के सिद्धान्त तो आचार्य के अस्खलित भाव से कण्ठस्थ होने चाहियें, कारण कि-गच्छ की सारणा और वारणादि क्रियाएं प्रायः इसी अनुयोग के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होती हैं, तथा व्यवहारसूत्र, वृहत्कल्पसूत्र, दशाश्रुतस्कंधसूत्र तथा नशीथसूत्र इत्यादि क्रिया-विशुद्धि के सूत्रों का अभ्यास आचार्य को अस्खलित भाव से होना चाहिए। जो श्रुतज्ञान स्थिर-परिपाटि से ग्रहण किया जाता है, वह इस जन्म और परलोक में भी कल्याण करने वाला होता है।

११ गृहीतवाक्य—आचार्य के मुख से इस प्रकार के वचन निकलने चाहिएं कि-जो सब भव्य प्राणियों को उपादेय (मनन करने योग्य) हों, क्योंकि-जो वचन पक्षपात रहित और भव्य जीवों का कल्याणकारी होता है, वह सादर लोक में अवश्य मानने योग्य हो जाता है। अतएव गणि का वाक्य राग द्वेष से रहित तथा सत्पथ का प्रदर्शक होना चाहिए।

१२ जितपरिषत्—आचार्य सभा के समक्ष न्याय पूर्वक और सत्य कथन करने वाले हों। क्योंकि-जब परिषद् में अक्षोभ चित्त होकर बैठेंगे तब प्रत्येक विषय पर शांत चित्त से ईहा अपोह कर सकेंगे, किन्तु जब चित्त भ्रम युक्त होगा, तब निर्णय तो दूर रहा स्वसिद्धान्त से भी स्खलित हो जाने की सम्भावना है, अतएव शांतचित्त, न्यायपक्षी, बहुश्रुत, समयज्ञ, पुरुष ही "जितपरिषद्" के गुण वाला हो सकता है।

१३ जितनिद्रः—निद्रा के जीतने वाला हो। कारणकि-आलस्य युक्त वा अप्रमाण से निद्रा लेने वाला पुरुष अपूर्व ज्ञान के ग्रहण से वंचित ही रहता है इस के अतिरिक्त जो पूर्वपठित ज्ञान होता है, वह भी विस्मृत होने लग जाता है: क्योंकि-सदैव निद्रा में रहने वाला जब अपने शरीर की भली प्रकार रक्षा नहीं कर सकता तो ज्ञान की रक्षा क्या करेगा ? जब वह ज्ञान की रक्षा से शून्य चित्त हो गया तो फिर वह गच्छ की रक्षा में किस प्रकार उद्यत हो सकता है ? इसलिये "जितनिद्र" अवश्यमेव होना चाहिए।

१४ मध्यस्थ—संसार पक्ष में बहुत से आत्मा राग द्वेष के वशीभूत होकर न्याय के स्थान पर अन्याय कर बैठते हैं, इसी कारण वे सत्पथ का अवलम्बन नहीं कर सकते, अतएव आचार्य प्रत्येक पदार्थ को माध्यस्थ भाव से देखने वाला हो, क्योंकि-जब समभाव से हर एक पदार्थ पर विचार किया जायगा, तब उस का निष्कर्ष शीघ्र उपलब्ध हो जायगा, इस लिये माध्यस्थता का गुण अवश्यमेव धारण करना चाहिए, जिस के द्वारा राग द्वेष न्यून होकर आत्म विकाश प्रकट हो।

उस से अनेक भव्यात्माओं को अपना कल्याण करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार महाराज प्रदेशी के किये हुए प्रश्नों का समाधान श्री केशी-कुमार श्रमण ने युक्ति पूर्वक किया है और उन प्रश्नोत्तरों को देख कर जीव-तत्व की परम आस्तिकता सिद्ध हो जाती है, एवं बद्ध और मुक्त का भी भली भांति ज्ञान हो जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में निर्ग्रन्थी पुत्र आदि श्रमणों के प्रश्नोत्तर को पढ़ कर ' आसन्नलब्धप्रतिभ " का शीघ्र पता लग जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-आचार्य में यह गुण अवश्य होना चाहिए, जिस के द्वारा संघ-रक्षा और श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रतिपादन किये हुए सत्य सिद्धान्त का अतीव प्रचार हो, जिस से भव्य आत्माएं अपना कल्याण करने मे समर्थ हो सकें।

१९ नानाविधदेशभाषाज्ञ—आचार्य महाराज को नाना प्रकार के देशों की भाषाओं का भी ज्ञाता होना चाहिए, ताकि वह प्रत्येक देश मे जाकर वहीं की भाषा में भगवदुक्त धर्म का प्रचार भली भांति कर सकें।

२० ज्ञानाचारयुक्त—ज्ञान के आचरण से युक्त अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यव, और केवल यथासंभव इन पांचों ज्ञानों से संयुक्त होना चाहिए, ताकि ज्ञान की आराधना हो सके और भव्य आत्माएं श्रुताध्ययन मे लग सकें। उदात्त अनुदात्त और स्वरित, इत्यादि घोष स्वरों की शुद्धता पूर्वक ज्ञान-वृद्धि की चेष्टा करता रहे, क्योंकि-स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय हो जाता है।

२१ दर्शनाचारयुक्त—दर्शन के आचार से युक्त अर्थात् सम्यक्त्व मे पूर्ण-तया दृढ़ता तथा देव गुरु और धर्म मे सर्वथा प्रीति तथा जीवादि का यथार्थ ज्ञान हो जाने से दर्शनाचार की शुद्धि कही जाती है। जीवादि का यथार्थ ज्ञान होने पर उस मे फिर शङ्कादि न करनी चाहिए, तभी आत्मा दर्शनाचार से युक्त हो सकता है, क्योंकि-शङ्कादि के हो जाने से फिर दर्शनाचार की शुद्धि नहीं रह सकती। जब तक दृढ़ता मे किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं होता तब तक दर्शनाचार की विशुद्धि की सब क्रियाएं की जा सकती हैं। यदि यहां यह शङ्का की जाय कि-जब दृढ़ता ही फल श्रेष्ठ है तब प्रत्येक प्राणी स्वमत की दृढ़ता मे निपुण हो रहा है तो क्या उनको दर्शनाचारयुक्त कहा जा सकता है ? इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि-जब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो गया है तब उस यथार्थ ज्ञान द्वारा देखे हुए पदार्थों में यथार्थ ही निश्चय है, उसी को सम्यग् दर्शन कहा जाता है। किन्तु जब अयथार्थ ज्ञान होगा तो उस मे अतद्रूप ही निश्चय होगा उसको मिथ्यादर्शन कहा जाता है। अतएव सिद्धान्त यह निकला कि-यथार्थ निश्चय का नाम सम्यग्

२४ वीर्याचार- मन वचन और काय के वीर्य से युक्त होना चाहिए अर्थात् मन में सदैव काल शुभ ध्यान और शुभ संकल्प ही होने चाहिएं, कारण कि-जब मन मे सत्य संकल्प और कुशल विचार उत्पन्न होते रहते हैं तब मन सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ओर ही झुका रहता है, अन्य आत्माओं पर अशुभ विचार उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः जब मन में शुभ संकल्प उत्पन्न होगए तब प्रायः अशुभ वाक्य का भी प्रयोग नहीं होता, अपितु मित और मधुर वाक्य ही मुख से निकलता है। जब मन और वाणी की भली प्रकार विशुद्धि हो जाती है, तब कायिक अशुभ व्यापार प्रायः निरोध किया जा सकता है। अतः आचार्य के तीनों योग सदैव काल शुभ वर्त्तने चाहिएं। बल-वीर्य तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि-पंडितबलवीर्य १ बाल-बलवीर्य २ और बालपंडित-बलवीर्य ३। जिन-आज्ञा के अनुसार जो यावन्मात्र क्रिया कलाप किया जाता है, उसी का नाम पंडितबलवीर्य है, और यावन्मात्र मिथ्यात्वबल से क्रिया कलाप किया जाता है वह सब बालवीर्य होता है कारण कि-बालवीर्य के द्वारा कर्म क्षय नहीं होते, बल्कि कर्मों का समुदाय विशेषतया एकत्र हो जाता है। इसी कारण उसे बालवीर्य कहा जाता है। जब आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त होता है किन्तु साथ ही वह देश-व्रति (श्रावक) धर्म का पालन करने वाला भी हो जावे तो उस की क्रिया को बालपंडितवीर्य कहते हैं, कारण कि-यावन्मात्र संवरमार्ग में क्रियाएं करता है, वह पंडितबलवीर्य, और यावन्मात्र वह संसारी दशा में क्रियाएं करता है, वह बालवीर्य, सो दोनों के एकत्र करने से बालपंडितवीर्य कहलाता है। अतएव आचार्य पंडित वीर्याचार से युक्त हो, जिस से संघ की रक्षा और कर्म प्रकृतियों का क्षय होता रहे।

जब पंडितबलवीर्य द्वारा शिक्षा पद्धति की जायगी, तब बहुत से भव्य आत्माएं संसार चक्र से अति शीघ्र पार होने के उद्योग मे लग जाएंगे।

२६ आहरणनिपुण-आहरण दृष्टान्त का नाम है; सो न्याय शास्त्र के अनु-सार जब किसी विवादास्पद विषय की व्याख्या करने का समय उपलब्ध हो जावे तो अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्तों द्वारा उस विषय के स्फुट करने मे परिश्रम करे। कारण कि-यावत्काल युक्ति युक्त दृष्टान्तों से उस विषय को स्फुट न किया जायगा, तावत्काल पर्यन्त वह विषय अस्खलित भाव मे नहीं आ सकेगा, और ना ही श्रोतागण को उस से कुछ लाभ होगा। अतएव विषय के अनुसार दृष्टान्त होना चाहिए। जैसे कि- किसी ने कहा कि -" पाप दु खाय भवति ब्रह्मदत्तवत् " अर्थात् पाप दुःख के लिये होता है, जिस प्रकार ब्रह्मदत्त को हुआ, इस

वर्द्धमान स्तुमः सर्वनयनद्यर्णवागमम् ।
संक्षेपतस्तदुन्नीतनयभेदानुवादतः ॥

टीका—नीयन्ते प्राप्यन्ते सदंशाङ्गीकारेणेतरांशौदासीन्येन वस्तुबोधमार्गो यैस्ते नया नैगमादयः सर्वे च ते नयाश्च सर्वनयास्त एव नद्यः सरितस्तासामर्णवस्समुद्रस्तत्तुल्य आगमो वाक्पथो यस्य स तथा तं वर्द्धमानं चरमजिनवरं वयं स्तुमः स्तुतिविषयीकुर्मः कुतः कस्मात् तदुन्नीतनयभेदानुवादतः तत्तस्य श्रीवर्द्धमानस्य उत्प्राबल्येन नीता वचनरूपेण प्राप्ता ये नयानां भेदविशेषास्तेषामनुवादतः कथितस्यैव यत्कथनं तदनुवादस्तस्मादनुवादतः कुर्मः, इति शेषः । कथं ? संक्षेपतोऽल्पविस्तरत इति ॥ १ ॥

भावार्थ—अनंत धर्मात्मक वस्तुओं में से किसी एक विशिष्ट धर्म को लेकर अन्य धर्मों की ओर उदासीन भाव रखते हुए जो पदार्थों का वर्णन करना है, उसी का नाम नय है । वे नैगमादि सर्व नय ही नदियों के तुल्य हैं, उन नदी तुल्य नयों के समुद्र तुल्य आगम (वचनमार्ग) जिनका है उन चरम तीर्थंकर महावीर भगवान् को स्तुति का विषय करते हैं—अर्थात् उनकी स्तुति करते हैं । किस प्रकार स्तुति करते हैं ? सो ही दिखलाते हैं—उस वर्द्धमान स्वामी के वचन रूप को प्राप्त हुए जो नय के भेद-उन के अनुवाद से-अर्थात् कथन किए को पुनः कथन करने से ही उन की स्तुति करते हैं ।

नैगमः सग्रहश्चैव व्यवहारर्जुसूत्रकौ
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ चेति नया स्मृताः ॥२॥

टीका—नैगमेति । न एको गमो विकल्पो यस्य स नैगमः पृथक् पृथक् सामान्यविशेषयोर्ग्रहणात् ॥ १ ॥ संगृह्णाति विशेषान् सामान्यतया सत्तायां क्रोडीकरोति यः स संग्रहः ॥ २ ॥ वि विशेषतयैव सामान्यमवहरति मन्यते योऽसौ व्यवहारः ॥३॥ ऋजु वर्त्तमानमेवं सूत्रयति वस्तुतया विकल्पयति यः स ऋजुसूत्रको द्वन्द्वे व्यवहारर्जुसूत्रकौ ॥४॥ काललिंगवचनैर्वाचकेन शब्देन समं तुल्यं पर्यायभेदेऽपि एकमेव वाच्यं मन्यमानः शब्दो नय ॥५॥ सं सम्यक् प्रकारेण यथापर्यायैरारूढमर्थं तथैव भिन्नवाच्यं मन्यमानः समभिरूढो नयः ॥६॥ भूत शब्दोऽत्र तुल्यवाची एवं यथा वाचके शब्दे यो व्युत्पत्तिरूपो विद्यमानोऽर्थोऽस्ति तथाभूततत्तुल्याऽर्थक्रियाकारिणमेव वस्तु वस्तुवन्मन्यमान एवं भूतो नयो द्वन्द्वे द्विवचनमित्यमुना प्रकारेण हे विभो ! त्वया नया स्मृताः स्वागमे कथिता इति शेषः ॥२॥

भा०—अनेक प्रकार से सामान्य और विशेष ग्रहण करने से नैगम कहा जाता है ॥१॥ विशेष पदार्थों को जो सामान्यतया ग्रहण करलेना है, उसी का नाम संग्रहनय है ॥२॥ जो सामान्य को विशेषतया ग्रहण करना है

कार से देखा जाता है, ठीक उसी प्रकार विशेष रूप धर्म को छोड़ कर जीवादि तत्त्वों को सामान्यतया एक रूप से देखा जाता है, परंच उक्त शत १०० घटों को जब जन पृथक् २ भाव से ग्रहण करते हैं, तब वे अपने २ स्वीकार किये हुए घट को पृथक् २ रूप से देखते हैं। जैसे कि-यह हमारा घट पीतवर्ण वाला है तथा यह इस का घट कृष्ण रंग वाला है अर्थात् समुदाय मे भेदक लक्षण द्वारा वे मूढ़ता को प्राप्त नहीं होते, यही आप का परम उपकार है, जो पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है।

नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम्
निर्विशेष न सामान्य विशेषोऽपि न तद्विना ॥५॥

तदेतत्त्वदुक्तपूर्वो नैगमो नैगमनामा नय उभयात्मकं वस्तु मन्यते उभौ द्वौ सामान्यविशेषौ अवयवौ आत्मा स्वरूपं यस्य वस्तुनस्तदुभयात्मकं तत्तादृग्रूपं वस्तु पदार्थं मन्यते स्वीकरोति। कुतस्त्वदाज्ञायां निर्विशेषं सामान्यं न निर्गतो दूरीभूतो विशेषो विशेषणं पर्यायो वा यस्य तन्निर्विशेषमीदृग्रूपं सामान्यं न विद्यते तद्विना सामान्यं विशेषं वा द्रव्यं विना रहितो विशेषो न विद्यतेऽत उभयात्मकं गृह्णाति। यदि सम्यग्दृष्टिरयमितिचेन्न-अय हि द्रव्यं पर्यायं च द्वयमपि सामान्यविशेषयुक्तं मन्यते, ततो नायं सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः ॥५॥

भा०—नैगम नय पदार्थ के दोनों धर्म मानता है अर्थात् पदार्थ सामान्यधर्म और विशेषधर्म दोनो धर्मों के धारण करने वाला होता है, परन्तु सामान्य धर्म से विशेष धर्म पृथक् नहीं हो सकता और नाहीं विशेषधर्म सामान्यधर्म से पृथक् हो सकता है। अतएव नैगमनय के मत से सर्व पदार्थ उक्त दोनों धर्मों के धारण करने वाले देखे जाते हैं. किन्तु द्रव्य और पर्याय रूप प्रक्रियाओं को सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेष रूप धर्मों से युक्त मानता है। तात्पर्य यह है कि-द्रव्य पयार्य युक्त तो होता ही है, अतएव सर्व द्रव्य सामान्य और विशेष रूप धर्मों से युक्त प्रतिपादन किया गया है।

अब संग्रह नय का विषय कहते हैं।

सग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि
सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेष· खपुष्पवत् ॥६॥

संग्रहः-संग्रह नामा नयस्तु सामान्यं द्रव्यसत्तामात्र जातिमात्रं वा यत्तत् सामान्यं तदेवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथा तद्वस्तु एव वस्तुतया मन्यते कस्माद्धि यस्मात् सामान्यव्यतिरिक्तः सामान्यात् पृथक्भूतो विशेषो नास्ति न विद्यते तद्विना विशेषः खपुष्पवद् आकाशकुसुमतुल्योऽस्तीति न वोपदेशो वर्त्तते तस्मात् ॥६॥

पृथग्भूतं सामान्यमसद् नास्ति खरविषाणवत् रासभशृङ्गवत् तर्हि विशेषमात्र एव पदार्थः ॥ ८ ॥

भा० व्यवहारनय विशेषात्मकरूप पर्यायस्वरूप वस्तु को स्वीकार करता है. उसका यह भी मन्तव्य है कि–विशेष से भिन्न सामान्यपदार्थ खर के विषाणों (सींग) के समान असद् होता है ।

अब वह अपने सिद्धान्त को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करता है–

वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्त गृह्णाति कोऽपि किम्
विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ॥६॥

एनमेवोदाहरति—यदा केनचिद्वक्त्रा कश्चिदादिष्टः भो ! त्वं वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्ते कथिते सति किं कोऽपि निम्बाम्रादीन् विशेषान् विना गृह्णाति न कोऽपि गृह्णाति तत्तस्मात् कारणाद् ग्रहणाभावात्तत्सामान्यं निरर्थकं निष्फलमेवेति ॥ ६ ॥

भा०—जैसे किसी ने कहा कि–हे आर्य ! पुत्र ! वनस्पति लाओ, तो क्या आम्र वा निम्बादि के नाम लिये विना वह किसी फल विशेष को ला सकता है ? कदापि नहीं, तव सिद्ध हुआ कि–विशेष के विना ग्रहण किये सामान्यभाव निर्थक ही होता है । अब उक्त ही विषय मे फिर कहते हैं–

व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने
उपयोगो विशेषैः स्यात् सामान्ये नहि कर्हिचित् ॥ १० ॥

टीका–तथा च व्रणपिण्डीव्रणं मनुष्यादीनां शरीरे प्रहारादिजातक्षतं तस्मै पिण्डी पट्टिकादिकरणं तथा पादलेपः पादलेपकरणं तयोर्द्वन्द्वे आदिपदाच्चक्षुरञ्जनादिके लोकानां जनानां प्रयोजनं कार्यं तस्मिन् विशेषैः पर्यायैरुपयोगः साधनं स्याद्भवति सामान्ये सत्तामात्रे सति कर्हिचित् कदाचिदपि न कार्यसिद्धिर्भवतीत्यतो विशेष एव वस्तु ॥ १० ॥

भा०—मनुष्यादि के शरीर में प्रहारादि के लग जाने से पट्टिकादि करना तथा पादलेप करना आदि शब्द से चक्षुरंजनादि करना इत्यादि प्रयोजनों के उपस्थित हो जाने पर विशेष भाव से ही कार्य सिद्ध हो सकेगा। अर्थात् जिस रोग के लिये जिस औषध का प्रयोग किया जाता है उस औषध का नाम लेने से ही वह औषधि प्राप्त हो सकेगी । केवल औषधि ही दे दो इतने ही कथन मात्र से काम नहीं चलेगा । अतः सिद्ध हुआ कि विशेष ही कार्य साधक हो सकता है । नतु सामान्य पदार्थ ।

अब व्यवहार नय के प्रति ऋजुसूत्र नय कहता है–

टीका—अयमृजुसूत्रनय एष्वनन्तरं वक्ष्यमाणेषु चतुर्षु निक्षेपेषु एकं भावनिक्षेपमेव वास्तवं मन्यते, नामस्थापनाद्रव्याणि न मन्यते. तेषां परकीयत्वादनुत्पन्नविनष्टत्वाच्च, तत्र नाम वक्तुरुल्लापरूपं वा गोपालदारकादिषु गतामिन्द्राभिधानं परकीयं स्थापना चित्रपटादिरूपा परकीया द्रव्यं पुनर्भाविभावस्य कारणं तच्चानुत्पन्नं भूतभावस्य कारणं तु विनष्टम् एवमग्रेतनाः शब्दादयस्त्रयो नया भावनिक्षेपमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः॥ १३ ॥

भा—यह ऋजुसूत्रनय नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों मे से केवल भाव निक्षेप को ही स्वीकार करता है क्योंकि—उसका यह मन्तव्य है कि—परकीय वस्तु अनुत्पन्न और विनष्ट रूप है, अतः वह कार्य साधक नहीं हो सकती। गोपालदारकादि मे इन्द्रादि का नाम स्थापन किया हुआ कार्य साधक नहीं होता है। इसी प्रकार चित्र पटादि रूप भी परकीय पर्यायों के सिद्ध करने में असमर्थ देखे जाते हैं। जैसे-किसी ने किसी का चित्र किसी वस्तु पर अंकित करदिया, तव वह चित्र उस व्यक्ति की क्रियाओं के करने में असमर्थ है। केवल वह देखने रूप ही है। अतएव इस नय का मन्तव्य यही निकलता है। भाव निक्षेप ही जो वर्त्तमान काल में विद्यमान है वही अभीष्ट कार्य की सिद्धि करने मे समर्थता रखता है। नतु प्रथम तीन निक्षेप कार्य साधक हो सकते हैं। इसी प्रकार अगले तीन नय भावनिक्षेप को ही स्वीकार करते हैं। तथा च

अर्थं शब्द नयोऽनेकै पर्यायैरेकमेव च
मन्यते कुम्भकलशघटाद्येकार्थवाचका ॥ १४ ॥

टीका—शब्दनामा नयः शब्द पुंस्त्री-नपुंसकाद्यभिधायकोल्लाप स्तत्प्रधानो नयः शब्दनयः स अनेकैः शब्दपर्यायैरुक्तोऽपि अर्थं वाच्यं पदार्थमेकमेव मन्यते, कुत.? हि यस्मात् कुम्भः कलशो घटः एते शब्दाः सर्वदर्शिभिर्जिनैरेकस्य घटाख्यपदार्थस्य वाचकाः कथितास्ततः सिद्धमनेकै पर्यायैरुक्तोऽप्यभिधेय एक एवेत्यर्थः— ॥ १४ ॥

भा०—शब्दनय पुल्लिग स्त्री नपुंसकलिंग आदि अनेक प्रकार के शब्दों के अर्थों को जानकर जो अर्थों को प्रधान रखता है, उसी का नाम अर्थ है। जैसे कि-कुंभ कलश घट यह सव भिन्न शब्द होने पर भी घट शब्द के अर्थ के ही वोधक हैं. अतएव अनेक पर्यायों के शब्द अनेक होने पर भी अर्थनय अर्थ (अभिधेय) को ही मुख्य रख कर एक ही मानता है।

ब्रूते समभिरुढोऽर्थं भिन्नपर्यायभेदत
भिन्नार्था कुंभकलशघटाघटपटादिवत् ॥ १५ ॥

एक ही पर्याय का वाची जो शब्द है; वही एक शब्द उस अभिधेय का वाची है, क्योंकि-विद्यमान भाव ही (ध्रुव) निश्चय से आत्मीय कार्य के करने वाला देखा जाता है। अतएव तद्रूप वही वस्तु है, अन्य नहीं तथा शास्त्र में स्वार्थक्रियाकारी वस्तु मानागया है। इस कारिका का सारांश केवल इतना ही है कि-एवंभूत नय केवल स्वार्थक्रियाकारी वस्तु को ही वस्तु मानता है, अन्य को नहीं अर्थात् जो अपने गुण में पूर्ण है वही वस्तु है, यही इस नय का तात्पर्य है।

यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत्।
तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ॥१८॥

वृत्तिः—यदि स पदार्थस्तदा तस्मिन् काले कार्यमकुर्वाणोऽपि स्वार्थक्रियामकुर्वन्नपि चेत् तत्तया वस्तुतया इष्यते अभ्युपगम्यते भवता तर्हिपटेऽपि घटव्यपदेशो घटशब्दवाच्यता कथं नेष्यते कस्मान्नेच्छविपयीक्रियते। किमत्रापराधः यथा स्वार्थक्रियामकुर्वाणो घटो घटत्वव्यपदेशभाग् भवति तथा घटक्रियाऽभाववान् पटोऽपि घटो भवतु स्वकार्यकारणाभावस्योभयत्रापि समानत्वादित्यर्थः ॥ १८ ॥

अर्थ-यदि वह पदार्थ उस काल में कार्य न करता हुआ भी अर्थात् स्वार्थ क्रिया न करने पर भी उस वस्तु को वस्तुतया मानता है अर्थात् वस्तु के भाव को स्वीकृत किया जाता है तो फिर पट मे भी घट शब्द की वाच्यता क्यों नहीं स्वीकार की जाती? तथा क्यों उक्त पदार्थ को इच्छा विपयक नहीं किया जाता इस प्रकार मानने मे उक्त पदार्थ ने क्या अपराध किया है? क्योंकि-जिस प्रकार स्वार्थ क्रिया न करने पर भी घट घटत्व के व्यपदेश का भागी बनता है उसी प्रकार घट क्रिया का अभाव वाला पट भी घट होजावे कारण कि स्वकार्य के अभाव होने से दोनों को ही समान होने से पक्षसमसिद्ध हो जाना है इस कारिका का सारांश इतना ही है कि-जब घट स्वक्रिया के न करने पर भी घटत्व का भागी बन जाता है तो फिर घटक्रिया के अभाव वाला पट भी स्वक्रिया के अभाव के सम होने से घट हो जाना चाहिए। कारण कि—

यथोत्तरविशुद्धा स्युर्नाके सप्ता प्यमी तथा।
एकैक स्याच्छतं भेदस्तत: सप्तशताअमी ॥ १९॥

वृत्तिः—अमी साक्षादुक्तपूर्वाः सप्तापि सप्तसंख्याका अपि समुच्चयार्थ. । नया यथोत्तरविशुद्धा यथा २ उत्तरा उपर्युपरि वर्त्तन्ते तथा २ विशुद्धा येऽन्ते यथोत्तरविशुद्धाः स्युर्भवन्ति। तथा एकैकः एकश्च एकश्च एकैको नयः शतं शतप्रमाणं भेदः प्रकारतः स्याद्भवति। ततो अमी नयाः सप्त इति संख्या-

अब सूत्रकार उपसंहार करते हुए श्री भगवान् की स्तुति इस प्रकार से करते हैं।

सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते।
सम्भूय साधु समयं भगवन् भजन्ते॥
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुज प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक् ॥२२॥

वृत्ति–हे भगवन्! हे श्री वर्द्धमान स्वामिन्! मिथ· परस्परंविरोधभृतोऽपि विरोधो विरुद्धाऽभिप्रायस्तं बिभ्रति धारयन्ति ये ते तथा विधा सर्वे समस्ता अपि नयाः सम्भूय एकीभूय साधु समीचीनं सुन्दरं ते तव समयं सिद्धान्तं भजन्ते सेवन्ते, कं के इव भुवि प्रधनयुक्तिपराजिता भुवि पृथ्व्यां प्रधनाय युद्धाय युक्ति प्रवलपुण्यवलेनापूर्वसैन्यरचना तया पराजिताः पराजयं प्राप्ताः प्रतिभटा विपक्षजेतारो भूपा द्राक्शीघ्रं सर्वा परिपूर्णषट्खण्ड-भूमी भोग्या यस्य स सार्वभौमश्चक्रवर्ती तस्य पादाम्बुज चरणकमलमिवेत्यर्थः ॥२२॥

अर्थ–हे श्रीभगवान् वर्द्धमानस्वामिन्! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा लोग सम्राट् चक्रवर्त्ती के चरण कमलों को सेवन करते हैं उसी प्रकार यह सातों नय परस्पर विरोध धारण करते हुए भी जब आप के पवित्र शासन को एकीभूत होकर सेवन करते हैं तब यह सातों नय शान्त भाव धारण करलेते हैं क्योंकि–आपकी वाणी 'स्यात् शब्द" परस्पर के विरोध को मिटाने वाली है अतएव जिस प्रकार विरोध छोड़ कर राजागण चक्रवर्त्ती के चरणकमलों की सेवा करते हैं उसी प्रकार सातों नय आप के शासन की सेवा करते हैं अर्थात् सातों नयों का समूहरूप आपका मुख्य सिद्धान्त है।

इत्थ नयार्थकवच कुसुमैर्जिनेन्दुवीरोऽर्चित· सविनयं विनयाभिधेन।
श्रीद्वीपवन्दरवरे विजयादिदेवसूरी शितुर्विजयसिंहगुरोश्चतुष्ट्यै ॥२२॥

नयकर्णिका समाप्ता॥

वृत्ति·–इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण नयानामर्थो नयार्थाः सोऽस्ति येषां तानि नयार्थकानि, नयार्थकानि च तानि वचांसि चेति तान्येव कुसुमानि पुष्पवृन्दं तैर्नयार्थकवच कुसुमैः, जिनश्चासौ इन्दुश्च जिनेन्दुर्जिनचन्द्रो वीरो वर्द्धमानस्वामी विनयेन सहितो यथास्यात् तथा सविनयं भूत्वा विनयाभिधेन विनयविजयेतिनामकेन मयाऽर्चित पूजित कुत्र कस्मै। श्रिया युक्ते द्वीपाख्यवन्दरवरे जलधितटवर्त्ति नगर श्रेष्ठे यस्य नाम्नि विजयपदमादौ वर्त्तते स तथा विजयदेव सूरिस्तस्य सूरीशितु शिष्यो विजयसिंहो यो मद्गुरुस्तस्य तुष्ट्यै सन्तु-

है परन्तु पर गुण की अपेक्षा असत्‌रूप है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् इन दोनों धर्मों के धारण करने वाला होता है जिस प्रकार एक पुरुष पिता और पुत्र दोनों धर्मों को धारण करलेता है यद्यपि यह दोनो धर्म परस्पर विरोधी भाव को उत्पादन करने वाल है तथापि सापेक्षिक होने से दोनों सत्‌रूप माने जासकते है क्योंकि वह पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व भाव को प्राप्त है और अपने पुत्र की अपेक्षा से उसमे पितृत्व भाव भी ठहरा हुआ है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वगुण मे सत्‌रूप और परगुण मे असत् रूप से माना जासकता है तथा अनेकान्त वाद मे जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक चरित्र का वर्णन किया गया है उसका उसी प्रकार परिचय होना चाहिए। इसी का नाम स्वसमयवित् है।

३२ पर समयवित्—पर समय का भी वेत्ता होना चाहिए, अर्थात् जैनमत के इलावा यावन्मात्र अन्यमत है, उनका भी भली भांति बोध होना चाहिए, कारण कि–जबतक उस का आत्मा परमत से परिचित नहीं हुआ, तबतक वह स्वमत मे भी पूर्णतया दृढता धारण नहीं कर सकता अत स्वमत मे दृढ़ता तब ही हो सकती है जब कि परमतका भली भांति बोध प्राप्त किया जाए। श्रीसिद्धसेन दिवाकरने लिखा है कि–जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया तावतश्चैव परसमयाः १ इस कथन का यह सारांश है, कि यावन्मात्र वचन के मार्ग है, तावन्मात्र ही नयवाक्य हैं, सो यावन्मात्र नयवाक्य है, तावन्मात्र ही परसमय है, अर्थात् तावन्मात्र ही परसमय के वाक्य हैं। अतएव पर समय से अवश्यमेव परिचित होना चाहिए। एवं क्रियावादी १ अक्रियावादी २ अज्ञानवादी ३ और विनयवादी४ इन मतों का भी बोध होना चाहिए। क्रिया वादी के मत मे जीव की अस्ति मानी जाती है, क्योंकि–कर्ता की चेष्टा का ही नाम क्रिया है सो कर्त्ता सिद्ध होने पर ही क्रिया की सिद्धि की जा सकती है। अतएव क्रिया वादी के मत मे जीव की अस्ति मानी जाती है परन्तु इस मत के १८४ भेद है उन भेदों मे जीव की अस्ति कई प्रकार से वर्णन की गई है, जैसे कि–किसीने जीवकी अस्ति कालाधीन स्वीकार की है, और किसीने ईश्वराधीन ही मान ली है। अस्तु, परन्तु जीव की अस्ति अवश्य स्वीकार की है द्वितीय अक्रियावाद है उसका मन्तव्य है कि–जीव की अस्ति नहीं है जब जीव की ही अस्ति नही है तो फिर क्रिया की अस्ति उस के मत मे किस प्रकार हो सक्ती है अतएव यह अक्रियावाद नास्तिकवाद है अर्थात् इसका दूसरानाम नास्तिकवाद भी है तृतीय अज्ञान वादी है वह इस प्रकार से अपने मत का वर्णन कररहा है कि–आत्मा मे अज्ञानता ही श्रेयस्कर है क्योंकि–यावन्मात्र जगत् में संक्लेश उत्पन्न

भिन्न २ प्रकार से मानते हैं जैसे कि कोई २ तो षट् दर्शन इस प्रकार से मानता है कि पूर्वमीमांसा १ और उत्तरमीमांसा २ निरीश्वर सांख्य ३ और सेश्वरसांख्य४षोडश पदार्थ के मानने वाला नैयायिक ५और सप्त पदार्थ के मानने वाला नैयायिक ६ इस प्रकार से दर्शन षट् होते हैं। कोई इस प्रकार से मानता है कि-बौद्ध मत की चार शाखाएं हैं जैसे कि-सौत्रान्तिक १ वैभाषिक २ योगाचार ३ और माध्यमिक ४ जैन ५ और लौकायतिक ६ इस प्रकार षट् दर्शन होते हैं तथा पूर्वोक्त और यह षट् दर्शन मिल कर सर्व दर्शन द्वादश होते हैं। अपितु कोई २ तो यह भी कहता है कि-मीमांसक १ सांख्य २ नैयायिक ३ बौद्ध ४ जैन ५ और चार्वाक ६ इस प्रकार षट् दर्शन होते हैं। पर च प्रकृत निबंधकार ने तो-बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय--इस प्रकार षट्दर्शन प्रतिपादन किये हैं, किन्तु--सर्व दर्शन संग्रह और सर्व शिरोमणि आदि निबंधों में तो अनेक दर्शन कथन किये गए हैं अर्थात् यह नियम नहीं देखा जाता कि केवल दर्शन इतने ही होते हैं। इसी वास्ते आचार्य के लिये"परसमयवित्" शब्द लिखा गया है कि--वह जैनमत के अतिरिक्त परमतके शास्त्रों का भी भलीप्रकार से परिचित हो. जैसे कि-षट्दर्शनों से बाहिर इसाई और मुसलमान आदि अनेक प्रकार के मत प्रचलित हो रहे हैं। उनके सिद्धान्तोंको भी जानना चाहिए,तथा सूक्ष्म बुद्धिसे अन्वेषण करना चाहिए। अतएव यावन्मात्र परमत के सिद्धान्त हों या उनके सिद्धान्तों की शाखाएं बन गई हों सब का भलीभांति बोध होना चाहिए। षट् दर्शनों के विषय मे इसलिए नहीं लिखा गया है, कि—इन दर्शनों की पुस्तकें कतिपय भाषाओं मे मुद्रित हो चुकी हैं अतएव पाठकगण उन पुस्तको से वा सूयगडाङ्ग-सूत्र, स्याद्वाद मंजरी आदि जैनग्रथों से उक्तदर्शनों के सिद्धांतों का भली भांति बोध कर सकते हैं। इस स्थान पर तो केवल इतना ही विषय है कि आचार्य को उक्त मतोके सिद्धान्तों का भी जानकार होना चाहिए।

२३ गाभीर्य्य-इस गुण मे आचार्य की गंभीरता सिद्ध की गई है, क्योंकि जिसमे गांभीर्य्य गुण होता है, उसी मे अन्य गुण भी आश्रित होजाते हैं, वही आचार्य अन्य व्यक्तियों की आलोचनादि को सुनने के योग्य होता है वही आचार्य अन्य आत्मा की शुद्धि कराने की योग्यता रखता है जो उस प्रायश्चित्ती का दोष सुनकर किसी और के आगे प्रकाश नहीं करता यही उसकी गंभीरता है। कारण कि-जब वह स्वयं गंभीर होगा तभी वह कष्टों को सहन करता हुआ अन्य आत्माओं को धर्म पथ मे स्थापन कर सकेगा, और आप भी पवित्र गुणों का आश्रयीभूत बन जायगा। अतएव आचार्य को द्वेष बुद्धि से किसी का मर्म प्रकाशित न करना चाहिए

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अठविहा गणि संपया पण्णत्ता ॥

अर्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने उस श्री भगवान् को इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए सुना है कि इस जिनशासन में स्थविर भगवंतों ने आठ प्रकार की गणि (आचार्य) संपत् प्रतिपादन की है।

उक्त वचन को सुनकर शिष्यने प्रश्न किया। अब इस विषय में सूत्रकार कहते हैं।

कयरा खलु अठविहा गणिसपया पण्णत्ता।

अर्थ--शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! कौनसी आठ प्रकार की गणि संपत् प्रतिपादन की गई है ?

शिष्य के प्रश्न का गुरु उत्तर देते हैं। अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं।

इमा खलु अठविहा गणिसंपया पण्णत्ता तंजहा—

अर्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आठ प्रकारकी गणिसंपत् इस प्रकार प्रतिपादन की गई है जैसे कि—

अब सूत्रकार आठ संपत् के नाम विषय मे कहते हैं।

आयार संपया १ सुय संपया २ सरीर संपया ३ वयण संपया ४ वायणा संपया ५ मइ संपया ६ पओग संपया ७ संगाह परिणाम अठमा ॥८॥

अर्थ—आचार संपत् १ श्रुतसंपत् २ शरीर संपत् ३ वचन संपत् ४ वाचना संपत् ५ मति संपत् ६ प्रयोग संपत् ७ और संग्रह परिज्ञा ॥८॥

अब सूत्रकार आचार संपत् के विषय में कहते हैं।

सेकिंतं आयार संपया ? आयार संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा— संजम धुवजोग जुत्ते यावि भवइ १ असंप्पगाहिऽप्पा २ अणिययवत्ती ३ वुढि सीलेयावि भवइ ४। सेतं आयार संपया।

अर्थ— शिष्यने प्रश्न किया कि—हे भगवन् ! आचार संपत् किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु कहने लगे कि—हे शिष्य! आचार संपत् चार प्रकार की वर्णन की गई है जैसे कि—संयम मे निश्चल योग युक्त होवे १ आचार्य की आत्मा अभिमानरहित होवे २ अनियतविहारी होवे ३ चंचलता से रहित वृद्धों जैसा स्वभाव होवे ४ यही आचार संपत् के भेद हैं। सारॉश—प्रथम संपत् सदाचार ही है। जो आत्मा आचार से पतित हो गया है वह आत्मिक गुणों से भी

उच्चारण का समय आजावे तब उदात्त १ अनुदात्त २ और स्वरित ३ इन तीन घोषों से युक्त और परम विशुद्ध श्रुत को उच्चारण करे अपितु यावन्मात्र श्रुत उच्चारण के दोष है उनको सर्वथा छोड़कर केवल विशुद्ध घोष से ही श्रुत उच्चारण करे ।

श्रुत संपत् के पश्चात् अब सूत्रकारतृतीय शरीर संपत् विषय कहते है।

सेकिंतं सरीर संपया ? सरीर संपया चउव्विहा पणणत्ता तंजहा। आरोह परिणाय संपएणेयावि भवइ १ अणोत्तए सरीरो २ थिर संघयणे ३ बहु पडिपुन्निंदिएयावि भवइ ४ सेतं सरीर संपया ॥

अर्थ-शिष्यने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! शरीर संपत् किसे कहते है ? गुरुने उत्तर में कहा कि-हे शिष्य ! शरीर संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसेकि-शरीर दीर्घ और विस्तार युक्त हो १ निर्मल और सुंदराकार शरीर हो २ शरीर का संगठन बलयुक्त हो ३ सर्व प्रकार से पंचेंद्रिय बलयुक्त वा प्रतिपूर्ण हों ४ यही शरीर संपत् है।

सारांश-द्वितीय सपत् के पश्चात् शिष्य ने तृतीय संपत् के विषयमे प्रश्न किया कि-हे भगवन्! शरीर संपत् किसे कहते है? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि-हे शिष्य ! शरीर का सुंदराकार होना यही शरीर की सपत् है किन्तु वह सपत् चार प्रकार से वर्णन की गई है जैसे कि-शरीर दीर्घ और विस्तीर्ण होना चाहिए जो वर्त्तमान समय मे सौदर्य धारण करसके। साथ ही सभा में बैठा हुआ शरीर कांति को धारण करने वाला हो अपितु लज्जा युक्त भी न हो अर्थात् शरीर सुदराकार हो। इतना ही नहीं किन्तु शरीर का संहनन स्थिर होना चाहिए क्योंकि-जिसके शरीर की अस्थिएं दृढ़ होंगी उस के शरीर का संहनन भी बलयुक्तही होता है। साथही पंचेंद्रिय प्रतिपूर्ण होवे। किसी इंद्रियमें भी किसी प्रकार की क्षति न हो जैसे कि-चक्षुओं मे निर्बलता, श्रुतेंद्रिय में निर्बलता वा शरीर रोगों के कारण विकृत होगया हो इत्यादि कारण शरीर संपत् के विघातक हो जाते है अतएव पांचों इंद्रिय प्रतिपूर्ण और बलयुक्त होनी चाहिएं क्योंकि शरीर संपत् का प्रतिवादी पर परम प्रभाव पड़ जाता है तथा धर्म कथादि के समय शरीरसंपत् के द्वारा धर्म का महत्व बढ़ जाता है ॥४॥

शरीर संपत् के पश्चात् अब सूत्रकार चतुर्थ वचनसंपत् के विषय मे कहते है :—

द्विगुण युक्त पठन कराना चाहिए ३ यावन्मात्र अर्थ का निर्वाह कर सके तावन्मात्र ही योग्यतानुसार अर्थवाचना देनी चाहिए ४ यही वाचना संपत् के भेद हैं।

सारांश—शिष्य ने प्रश्न किया हे भगवन्! वाचना संपत् किसे कहते हैं? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि हे शिष्य! जिस प्रकार शिष्य को सूत्र वा अर्थ का बोध होसके उसी प्रकार पठन व्यवस्था की जाए उसी का नाम वाचना संपत् है परन्तु इस संपत् के चार भेद हैं जैसे कि–शिष्य की योग्यता देखकर ही उस को सूत्र के पठन की आज्ञा देनी चाहिए जैसे कि–यह शिष्य इस के योग्य है अत इसको यही सूत्र पढ़ाना चाहिए १ योग्यता देखकर ही वाचना देनी चाहिए जैसेकि–यह शिष्य इतनी वाचना सुखपूर्वक संभाल सकता है २ फिर योग्यता देखकर ही संहिता १ पद २ पदार्थ ३ पदविग्रह ४ शंका ५ और समाधानादि ६ विषय परिश्रम करना चाहिए ३ तथा यावन्मात्र वह अर्थका निर्वाह कर सके तावन्मात्र ही उसे अर्थ प्रदान करना चाहिए ४ कारण कि योग्यता पूर्वक पाठ्य व्यवस्था की हुई हो तो शिष्य के हृदय मे अर्थ अधिगत हो जाता है यदि योग्यता विना वाचना दीजायगी तो सूत्र की आशातना [अविनय] होगी और पठन करने वाले के चित्त को विक्षेप उत्पन्न हो जायगा।

पांचवीं वाचना संपत् के पश्चात् अब छठी मतिसंपत् के विषय मे सूत्रकार कहते हैं :—

से किंतं मइ संपया? मइ संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा–उग्गह मइ संपया १ ईहामइसंपया २ अवायमइ सपया ३ धारणामइ संपया ४ ॥

अर्थ–शिष्यने प्रश्न कियाकि–हेभगवन्! मति संपत् किसे कहते है? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने कहा कि हे शिष्य! मति संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि–अवग्रहमति १ ईहामति २ अवायमति ३ और धारणामति ४।

साराश–सामान्य अवबोधका नाम अवग्रहमति है अर्थात् पदार्थों का सामान्य प्रकार से जो बोध होता है उसे अवग्रहमति कहते है परन्तु सामान्य बोधमें जो फिर विचार उत्पन्नहोता है उस विचार से जो विशिष्ट बोधकी प्राप्ति होती है उसीका नाम ईहामति है फिर ईहामति से जो पदार्थों का भाव अवगत होता है उसी का नाम अवायमति है। अवगत होने के पश्चात् जो फिर उस ज्ञानकी धारणा कीजाती है उसी का नाम धारणामति है। पूर्व

पुनः शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! धारणामति किसे कहते हैं ? गुरु ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे शिष्य ! धारणामति के भी छः भेद वर्णन किए गए हैं जैसे कि एकही वार वहुत से प्रश्नों को धारण करले १ वहुत प्रकार से प्रश्नों के भावों को धारण करले २ पुरातन ज्ञान (प्राचीन) को धारण करे ३ नय और भंग तथा सप्तभंगी आदि के भावों को धारण कर। ४ परन्तु सूत्र वा शिष्यादि के निश्राय (आश्रय) विना ज्ञान को धारण करे ५ फिर विना सन्देह ज्ञान को धारण करे अर्थात् संशय रहित ज्ञान की धारणा करे ६ सो इसी को धारणामति संपत् कहते हैं।

साराश—जो सूत्र में मतिसपत् के मुख्य चार भेद किये गए थे अब शिष्य ने चार भेदों के उत्तर भेदों के विषय प्रश्न किया है कि-हे भगवन् ! अवग्रहमति के कितने भेद किये गये हैं ? इस के उत्तर में गुरु ने कथन किया कि—हे शिष्य ! अवग्रह मति के छः भेद प्रतिपादन किये गये हैं जैसेकि- जब ही किसी ने कोई प्रश्न किया उसी समय उसके भावोंको जान लेना यह अवग्रहमति का प्रथम भेद है इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए जैसेकि-एक ही वार वहुत से प्रश्न कर दिये उनको एक ही वार सुनकर अवगत कर लेना २ किन्तु अपनी वुद्धि में उन प्रश्नों को भिन्न २ प्रकार से ही स्थापन करना अर्थात् विस्मृत न होने देना ३ अपितु दृढ़तापूर्वक उन प्रश्नों को धारण करना जिससे वे अस्खलित रूपसे वने रहें ४ फिर किसी की सहायता विना उन प्रश्नों को धारण करना जैसे-ऐसे न हो कि-हे शिष्य ! तू ने इसको स्मृति रखना वा पत्र संचिकादि में स्मृति रूप लिख लेना तथा किसी ग्रथ के देखने की जिज्ञासा प्रगट करना ५ साथ ही जिस प्रश्नको स्मृति किया है उसमें किसी प्रकार से भी संशय न होवे जैसे कि उसने क्या कहा था? क्या यह था-वा कुछ और भी पूछा था? इसप्रकार के संशय न होने चाहिएं ६ यही अवग्रहमति संपत् के पद भेद हैं। परन्तु धारणामति संपत् के पद भेद निम्न प्रकार वर्णित हैं जैसेकि एक वार सुनकर वहुत ही धारण कर लेवे १ वा वहुत प्रकार से धारण करे २ जिस वात को हुए चिरकाल होगया हो उसे भी स्मृति पथ मे रखे कारण कि-पुरातन वातों के आधारपर ही नूतन नियमों की सृष्टि रची जासकती है पुरातन वातें ही नूतन क्रियाओं के करने मे सहायक होती हैं जैसेकि-अमुक समय यह वात इस प्रकार की गई थी ३ तथा जो ज्ञान दुर्द्धरहो जैसेकि-भंग नय निक्षेपादि, उस ज्ञान को भी धारण कर रक्खे क्योंकि भंगादिका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति सहज मे ही धारण नहीं कर सकता अतएव आचार्य को अवश्यमेव उक्त प्रकार के ज्ञान को स्मृति मे रखना चाहिए ॥४॥

ही कोलाहल करना चाहती है, यदि दर्शक उपहासादि के लिए ही एकत्र हुए हों तो केवल किसी समय स्खलित भावादि को देखकर उपहास ही करना चाहते हैं अतएव परिषत् भावों को देख कर ही वाद में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥

क्षेत्र को देखकर ही वाद करना चाहिए क्योंकि-यदि क्षेत्राधिपति धर्म का द्वेषी है वा उस समय उस क्षेत्र में जो माननीय पुरुष है वह अनार्य है अथवा धर्म चर्चा के उद्देश्य को नहीं जानता, एवं उसको सभापति बनाने की संभावना हो तथा निर्णय उसके हाथ में हो इत्यादि सर्व भावों को देखकर ही वाद के लिए प्रवृत्ति करनी चाहिए। ३। षद् द्रव्यों में से किस द्रव्य विषय वाद करना है, उस विषय में मेरा सत्व है या नहीं इसका अनुभव करके तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप पदार्थों के स्वरूप को जानकर ही वाद करना चाहिए जैसेकि द्रव्य से धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव यह छै द्रव्य हैं १ क्षेत्र से ऊर्ध्व १ अधो २ और तिर्यक् यह तीन लोक हैं २ काल से-भूत भविष्यत् और वर्तमान यह तीनों काल हैं ३ भाव से-औदयिक २ औपशमिक २ क्षायिक ३ क्षयोपशमिक ४ पारिणामिक ५ और सन्निपात ६ यह भाव हैं तथा सात नय प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आगम यह चार प्रमाण नाम स्थापना द्रव्य और भाव यही चारों निक्षेप वा निश्चय पक्ष वा व्यवहार पक्ष सामान्य भाव वा विशेष भाव कारण और कार्य इस प्रकार अनेक शास्त्रोक्त भावों को जानकर और अपनी शक्ति को देखकर ही वाद विषय में उद्यत होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार करने से किसी प्रकार की भी क्षति होने की संभावना नहीं है अपितु धर्मप्रभावना तो अवश्यमेव होजायगी इसी का नाम प्रयोगमतिसंपत् है अब सूत्रकार प्रयोगमति के पश्चात् संग्रहपरिज्ञा नामक आठवीं संपत् विषय कहते हैं:—

सेकिंतं संग्गह परिणा नामं संपया ? संग्गहपरिणा नामं संपया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा-वासा सुखेत्ते पाडिलेहित्ता भवइ; बहुजण पाउगत्ताए १ बहुजण पाउगत्ताए पाडिहारिय पीढ फलग सेज्जा संथारंय उगिरिहत्ताभवइ२ कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ ३ आहागुरू संपूएत्ता भवइ ४ सेतं संग्गह-परिणा नामं संपया ॥ ८ ॥

अर्थ—शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् किसे कहते है ? तब गुरु ने उत्तर मे प्रतिपादन किया कि-हे शिष्य ! सग्रह परिज्ञा नामक संपत् के चार भेद हैं जैसेकि-आचार्य बहुत से भिक्षुओं के लिए वर्षाकाल मे ठहरने के लिए क्षेत्रों को प्रतिलेखन करनेवाला हो १

हो जाने से आचार्य फिर गच्छ की सारणा वारणादि क्रियाएँ सुखपूर्वक कर सकेगा ३ फिर अहंकार भाव को छोड़ कर दीक्षा गुरु वा श्रुत गुरु तथा दीक्षा में बड़ा उनकी विनय भक्ति करने वाला हो जैसे कि–जब उन का पधारणा होवे तब उनको आते हुए देखकर अभ्युत्थानादि सम्यग् रीति से करना चाहिए फिर आहार वा औषधि तथा उनकी इच्छानुसार उपाधि आदि के द्वारा उनका सत्कार करना चाहिए। सारांश इस का इतना ही है कि–अंहकार भाव से सर्वथा रहित हों।

गुरुओं की विधिपूर्वक पर्युपासना करनी चाहिये यदि ऐसे कहा जाए कि–गुरु पंचम साधु पदमें है और शिष्य तृतीय आचार्य पदमें है तो फिर वह तृतीय पदवाला पचम पदकी पर्युपासना किस प्रकार करसकता है? इसका समाधान यह है कि–जैनमत का मुख्य विनयधर्म है अतएव सिद्धान्त में लिखा है कि–जहाहि अग्गि जलणं नमंसे। नाणाहुइ मंत्र पयाभिसित्तं एवायरियं उवचिट्ठइज्जा अणंत नाणोवगओविसतो (दशवैकालिक सूत्र० अ. ६ उद्देश १ गाथा ११)

अर्थ—जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करता है तथा नाना प्रकार आहुति, और मंत्र पदों से अग्नि को अभिसिक्त करता है उसी प्रकार शिष्य आचार्य (गुरु) की अनंत ज्ञानके उत्पन्न होजाने पर भी भक्ति और विनय करे तथा जिसप्रकार अग्निहोत्रीपुरुष सदैव अग्नि के ही पास रहता है उसी प्रकार शिष्य गुरुकुलवासी रहे, तथा जिस प्रकार राज्य अवस्था के मिलजाने पर फिर वह राजकुमार अपने मातापिता की विनय करता है ठीक उसीप्रकार आचार्य पदके मिलजाने पर दीक्षावृद्धों की पर्युपासना करता रहे क्योंकि–आचार्य पद केवल गच्छवासी साधु-और साध्वियों की तथा श्रावक वा श्राविकाओं की रक्षा करनेके लिये ही होता है परन्तु विनय भक्ति के व्यवच्छिन्न करने के लिये नहीं क्योंकि–आचार्यका कर्त्तव्य है कि अपनी पवित्र आज्ञा द्वारा संघसेवा करता रहे और विनय धर्म को कदापि न छोड़े इसीलिये सूत्र में प्रतिपादन किया है कि आचार्य गुरु पर्युपासना करता रहे क्योंकि आज्ञा प्रदान करना कुछ और वात है गुरु भक्ति करना कुछ और वात है सो यही संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् का चतुर्थ भेद है इस प्रकार आठ प्रकार की संपत् का वर्णन किये जाने पर अब चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति विषय सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं जिस का आदिम सूत्र निम्न प्रकार से है :—

आयरिओ अंतेवासीएमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीएविणइत्ता

जैसेकि आचार्य आप शुद्धाचरण धारण करे और अपने शिष्य को संयम समाचारी का ठीक २ बोध करावे यथा–पंचाश्रवाद्विरमणं पंचेंद्रियनिग्रहः कषायजयः दंडत्रयविरतश्च संयम· सप्तदश विधः ॥ १ ॥ अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों आश्रवों की विरति करना और श्रोतेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घ्राणेंद्रिय रसेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय इनका निग्रह करना फिर क्रोध, मान, माया और लोभ का जीतना तथा मन वचन और काया का वश मे करना यह सर्व १७ प्रकार के संयम के भेद हैं। आचार्य स्वयं इन भेदों पर आचरण करता हुआ फिर इनका पूर्ण बोध अपने शिष्य को करावे। इसी प्रकार १२ प्रकार के तप के भेदों को भी अपने शिष्य को सिखलाता हुआ आप भी यथाशक्ति तप धारण करे तथा जो व्यक्ति तप करने से हिचकिचाते हों उन को तपका माहात्म्य दिखलाकर तप में उत्साहित करे। सूत्रों मे तप के १२ बारह भेद वर्णन किए गए हैं जैसे कि–अनशन १ ऊनोदरी २ भिक्षाचरी ३ रसपरित्याग ४ कायक्लेश ५ और प्रतिसलीनता ६ प्रायश्चित्त ७ विनय ८ वैयावृत्य ९ स्वाध्याय १० ध्यान ११ और कायोत्सर्ग १२ इनका सविस्तर स्वरूप औपपातिकादि सूत्रों से जानना चाहिये। सो आचार्य शिष्यको उक्त तपोंके विधि विधानादि से परिचित कराए। तप समाचारी के पश्चात् फिर आचार्य गण समाचारी का शिष्य को बोध कराए जैसे कि–गण के उपाधिधारियो के क्या २ कर्तव्य हैं तथा अन्य गण के साथ किस प्रकार वर्त्ताव करना चाहिए किस प्रकार अन्य गणके साथ वंदनादिका संभोग जोड़ना चाहिए और किस प्रकार अन्यगण से पृथक् हो जाना चाहिए वा स्वगण मे जो मुनियों के कई कुल होते हैं उनके साथ किस प्रकार वर्त्ताव करना चाहिए वा जो स्वगण मे क्रियाकांड की शिथिलता आगई हो उसे किस प्रकार दूर करना चाहिए अथवा अपनेही गण मे जो साधु प्रत्युपेक्षणादि मे शिथिल होजांवे तो उनको किस प्रकार सावधान करना चाहिए। इसी प्रकार स्वगण मे जो बाल दुर्बल ग्लानादि युक्त साधु है उनकी किस प्रकार वैयावृत्य (सेवा) करनी चाहिए इस प्रकार की गण सामाचारी को आचार्य आप धारण करता हुआ अपने शिष्य को यथाविधि शिक्षित करे जब गण समाचारी का पूर्ण बोध होजावे तो फिर एकाकि विहार प्रतिमा की समाचारी का शिष्य को ज्ञान कराए क्योंकि गणसे पृथक् होकर ही एकल्ल· विहार प्रतिमाका ग्रहण हो सकता है वा साधु की १२ प्रतिमा [प्रतिज्ञाओं] के धारण करने की यथाविध विधि का शिष्य को बोध कराए। इतनाहीं नहीं किन्तु उक्त समाचारी को आप धारण करे और अपने शिष्यों को धारण कराए, कारण कि सूत्रोक्त विधि से यदि एकल्लविहार प्रतिमा धारण कीजाए तो परमनिर्जराका कारण होता है अतएव आचार्य सर्व प्रकार से एकल्ल विहार प्रतिमा

और विद्यार्थीकी आत्माका हित हो उसी प्रकार वाचना देनी चाहिए अर्थात् योग्यता देखकर ही सूत्रका अर्थदान करना चाहिए क्योंकि–जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे (आम) घट (घड़े) में जल डालने से घट और जल दोनों का विध्वंस होजाता है ठीक उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को योग्यता विना पठन कराने से उस व्यक्ति और ज्ञान दोनों का विनाश हो जाता है इसलिए जिस प्रकार उस विद्यार्थी का ज्ञान द्वारा हित हो सके वही क्रम ग्रहण करना उचित है। इस कथन का सारांश यह है कि–पठन इस लिए कराया जाता है कि–ज्ञान की प्राप्ति हो और चित्त की समाधि (शांति) उत्पन्न की जाए। जब अयोग्यता से पठन कराया गया तब उक्त दोनों कार्यों की सफलता पूर्णतया नहीं हो सकती अतएव हित वाचना द्वारा अपना और शिष्य का हित करना चाहिए जब हितवाचना की समाप्ति हो जावे तब फिर चौथी निशेपवाचना द्वारा सर्व प्रकार से शंका समाधान करना चाहिए तथा प्रारब्धसूत्र की समाप्ति के पश्चात् ही अन्य सूत्र का प्रारभ करना चाहिए अथवा प्रमाण निक्षेप नय और सप्तभंगादि के द्वारा सूत्र के भावों को जानना चाहिए क्योंकि–यावन्मात्र प्रश्न हैं उनके समाधान सर्व निशेप वाचना द्वारा किए जाते हैं अतः निशेप-वाचना अवश्यमेव पठन करानी चाहिए। इस प्रकार श्रुतविनय के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार विक्षेपणा विनय विषय कहते हैं:—

सेकिंतं विखेवणा विणए ? विखेवणा विणय चउव्विहे पणत्ता तंजहा–अदिट्ठ धम्म दिट्ठ पुव्वगत्ताए विणसत्ता भवइ १ दिट्ठपुव्वगं साहम्मिय-त्ताए विणएत्ता भवइ २ चुय धम्माउ धम्मे ठावइत्ता भवइ ३ तस्सेव धम्मस्स हियाए सुहाए खमाए निसेस्साए अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भव-इ ॥ ४ ॥ सेतं विखेवणा भवइ ॥

अर्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! विक्षेपणा विनय किसे कहते है ? (उत्तर) हे शिष्य ! विक्षेपणा विनयके चार भेद प्रतिपादन किए गए है जैसे कि–जिन आत्माओंने पहिले सम्यक्त्वरूप धर्म का अनुभव नही किया उन आत्माओंको सम्य-क्त्वरूप धर्म मे स्थापन करना चाहिए १ जिन्होने सम्यक्त्वरूप धर्म प्राप्तकर लिया है उन जीवों को साधर्म्यतामे स्थापन करना चाहिए २ जो धर्म से पतित होते हों उन्हे धर्म मे स्थिर करना चाहिए ३ और सदैवकाल श्रुत और चारित्र धर्म का महत्त्व दिखलाना चाहिए जैसे कि–हे भव्यजीवो ! श्रुत और चारित्र धर्म हितकारी है, सुखकारी है, समर्थ है, मोक्षके लिये मुख्य साधन है, जन्म २ मे साथ चलनेवाला है। अतएव इसको अवश्यमेव धारण करना चाहिए ॥ ४ ॥

अर्थ--(प्रश्न) दोष निर्घातना विनय किसे कहते हैं ? (उत्तर) हे शिष्य ! दोष निर्घातना विनय के चार भेद प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि-क्रोधी के क्रोध को दूर करना चाहिए १ दुष्ट की दुष्टता को दूर करना चाहिए २ कांक्षित पुरुष की आकांक्षा पूरी करनी चाहिए ३ क्रोधादि से रहित शुद्ध और पवित्र आत्मा बनानी चाहिए अर्थात् सुप्रणिहितात्मा होना चाहिए इसी का नाम दोषनिर्घातना विनय है ॥

साराश--शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! दोष निर्घातना विनय किसे कहते हैं और इस के कितने भेद हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु कहने लगे कि-हे शिष्य ! दोष निर्घातना विनय उसी का नाम है जिस के द्वारा आत्मा से दोषों को निकाल बाहिर किया जाए इसके मुख्य चार भेद हैं जैसे कि-जिनको क्रोध करने का विशेष स्वभाव पड़ गया हो उनको क्रोधका कटुफल दिखलाकर तथा मृदु और प्रिय भाषण द्वारा क्रोध को दूर कर देना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार उनका क्रोध दूर हो सके उसी उपाय से उनका क्रोध दूर कर देना चाहिए। जिस प्रकार विष भी युक्तियों से औषधी के रूप को धारण करता हुआ अमृतरूप हो जाता है ठीक उसी प्रकार क्रोधरूपी विषको शास्त्रीय शिक्षाओं द्वारा शांत करना चाहिए तथा जिस प्रकार दावानल को महा मेघ अपनी धारा द्वारा शान्त कर देता है ठीक उसी प्रकार शास्त्रीय उपदेशों द्वारा क्रोध को शान्त कर देना चाहिए १ इसी प्रकार जो व्यक्ति क्रोध-मान, माया और लोभ द्वारा दुष्टता को धारण किये हुए हो उस की भी शास्त्रीय शिक्षाओं द्वारा दुष्टता दूर कर देनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि-जिस व्यक्ति को दुष्टता धारण करने का स्वभाव पड़ गया हो उस के स्वभाव को शान्त भावों से वा शिक्षाओं द्वारा ठीक करना चाहिए २। इसी प्रकार संयम निर्वाह के लिए जिसको जिस वस्तु की आकांक्षा हो उसकी आकांक्षा पूरी कर देनी चाहिए। अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र वा पुस्तक की आकांक्षा अथवा विहारादि की आकांक्षा सो जिस प्रकार की संयम विषयक आकांक्षा हो उसकी पूर्ति मे बराबर सहयोग देना चाहिए तथा यदि किसी के मन में प्रवचन के विषय शंका हो तो उसकी शंका का समाधान भली प्रकार से कर देना चाहिए क्योंकि शास्त्र मे लिखा है कि-शंकायुक्त आत्मा को कभी भी समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव शंका अवश्यमेव छेदन करनी चाहिए। शंका रहित होकर फिर वह आत्मा शास्त्रोक्त क्रियाओं मे निमग्न होता हुआ क्रोध, मान, माया और लोभरूप अंतरंग दोषों से विमुक्त होकर सुप्रणिहितात्मा हो जाता है अर्थात् उसका आत्मा सकल दोषों से रहित होकर शुद्ध और पवित्र होजाता है। इसीका नाम दोषनिर्घातना विनय है ॥

उपकरण को उत्पन्न करना है और उसके मुख्य चार भेद हैं जैसे कि--जो उपकरण अपने गच्छ में न हो उसको उत्पन्न करना १ संयम के निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता रहती है उसे उपकरण कहते हैं। जैसे कि-वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि जो वस्त्रादि अपने गच्छ में न हों उन्हें गच्छ-वासी साधुओंके लिये उत्पन्न करने चाहिएं।

उक्त कार्य आचार्य स्वयं करे किन्तु यदि आचार्य श्रान्तहोगया हो वा उसकी स्वाध्यायादि क्रियाओं में विघ्न पड़ता हो तो शिष्य स्वयं गच्छवासी साधुओंके लिये अनुत्पन्न उपकरण को उत्पादन करे १ जो प्राचीन (पुराना) उपकरण हो उसे संरक्षित रखना चाहिए यदि उपकरण जीर्ण हो तो उसे गुप्त रखना चाहिए क्योंकि पुराणा वा जीर्ण उपकरण संरक्षित किया हुआ फिर पहि-रने में आसकता है क्योंकि जीर्णादि उपकरण सीए हुए वर्षाकालादि के समय प्रयोग में आसकते हैं २ जिस साधु के पास अल्प उपकरण हों उसको अपनी निश्राय का उपकरण देदेवे जिससे उसका आत्मा स्थिर होजावे कारण कि सुरक्षित होनेसे ही गच्छका महत्व बढ़ जाता है और ऐसे सुयोग्य आचार्य के गच्छ में निवास करते हुए साधु अपना कल्याण कर सकते हैं ३ जब कभी वस्त्रादि उपकरण के विभाग करने का समय उपस्थित हो तब यथायोग्य उप-करण देना चाहिए। बड़ेको बड़े के योग्य औरछोटे को उसके योग्य उपकरण देना उचित है ॥ इसी का नाम उपकरण उत्पादन विनय है ॥ अब सूत्रकार इसके अनन्तर सहायता विनय विषय कहते हैं:--

सेकिंतं साहिल्लया? साहिल्लया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा-अणुलोम-वइ सीहतेयावि भवइ १ अणुलोमकाय किरियत्ता २ पडिरूवकाय संफासणया ३ सवत्थेसु अपडिलोया ४ सेतं साहिल्लया ॥

अर्थ-(प्रश्न) सहायता विनय किसे कहते हैं? (उत्तर) सहायता विनय के चार भेद हैं जैसेकि-अनुकूल वचन बोलना वा बुलाना चाहिए १ अनुकूल काय द्वारा अन्य व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए २ जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों को अपने द्वारा सुख पहुचसके उसी प्रकार उनको यथाविधि सुख पहुंचाना चाहिए ३ सर्व कार्य करते हुए ऋजुता धारण करनी चाहिए अर्थात् मिथ्याभिनिवेश न करना चाहिए ॥ ४ ॥ सो इसे ही सहायता विनय कहते हैं।

सारांश—शिष्य ने प्रश्न किया कि—हे भगवन्! सहायताविनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं? इस के उत्तर में गुरु कहने लगे कि-हे शि-ष्य! अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना और उनके दुःख की निवृत्ति करना उस-का नाम सहायताविनय है। इस विनय के चार भेद हैं जैसेकि-प्रत्येक प्राणी

अर्थात् तिरस्कार वा उपालंभादि द्वारा उनको सुशिक्षित करना २ जो व्यक्ति आचार्यादि के यथार्थ गुणों का गान करते हैं उनका धन्यवाद वा उनके सद्गुणों का प्रकाश करना ३ जो महाव्यक्ति आत्मिक गुणों में पूर्ण हैं उनकी सेवा करना क्योंकि उनकी सेवा से आत्मिक गुणों की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार वर्णसञ्ज्वलनता का वर्णन करते हुए अब सूत्रकार भारप्रत्यवतारणता विनय के विषय में कहते हैं.—

सेकिंतं भारपच्चोरूहणया ? भारपच्चोरूहणया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा—असंगहीयं परिजणं संगहित्ता भवइ १ सेहं आयारगोयरगाहित्ता भवइ २ साहम्मियस्सगिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्टित्ताभवइ ३ साहम्मियाणं अहिकरणंसि उप्पएणं स तत्थ अणिस्सितो वसिएवसितो अप्पक्खग्गाही मज्झत्थ भावभूए समंववहारमाणे तस्सअहिकरणस्सखामणविउ समणयाए सयासामियं अब्भुठेत्ता भवइ कहंतुसाहम्मिया अप्पसद्दा अप्प झंझा अप्पकलहा अप्प कसाया अप्पतुमंतुमा संजम बहुला संवर बहुला समाहि बहुला अप्पमत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं एवंचणं विहरेज्जा ॥ ४ ॥ सेतं भारपच्चोरूहणया एस खलुसा थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता त्तिबेमि योत्थिया दसा समत्ता।

अर्थ--(प्रश्न) हे भगवन्! भारप्रत्यवतारणताविनय किसे कहते हैं? (उत्तर) हे शिष्य! यदि आचार्य गच्छ के भार को शिष्य के सपुर्द कर दे उसका नाम भारप्रत्यवतारणता विनय है। उसके चार भेद प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि—असगृहीत को सगृहीत करना १ शिष्य को आचार गोचार सिखाना २ ग्लानिक स्वधर्मी की यथाशक्ति वैयावृत्य करना ३ साधर्मिक व्यक्तियों मे क्लेश उत्पन्न होजाने पर निर्पक्ष होकर माध्यस्थ भाव धारण करके सम्यग्-प्रकार से श्रुतव्यवहार को प्रयोग मे लाकर क्लेश को शान्त करने के लिए सदैवकाल उद्यत रहना ताकि क्लेश के स्थान पर समाधि उपस्थित हो ४। फिर अप्रमत्त होकर संयम और तपके द्वारा अपनी आत्माकी भावना चिन्तन करता हुआ विचरे। इस प्रकार उक्त विनय का पालन करना भार-प्रत्यवतारणता विनय कहा जाता है।

साराश--शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन्! भार प्रत्यवतारणता विनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद प्रतिपादन किये गए हैं? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि--हे शिष्य! जिस प्रकार राजा अपने

हैं जैसेकि आठ संपदोंके चार २ भेद, सर्व भेद एकत्र करने से ३२ हुए और चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति के मिलाने से ३६ गुण होजाते हैं परन्तु मन्तव्य यह है कि-आचार्य समग्र गुणो से संयुक्त हो ताकि गण की सम्यग्तया रक्षा कर सके क्योंकि गुणों में एक स्वाभाविक शक्ति होती है जो अन्य व्यक्तियों को स्वयमेव आकर्षित करलेती है। जिसप्रकार गच्छमें आचार्य मुख्य माना जाता है ठीक उसी प्रकार द्वितीय अंकपर उपाध्याय का नाम है। गच्छ के मुनियोंको सुयोग्य बनाना तथा योग्यतापूर्वक उनको श्रुताध्ययन कराना यही उपाध्याय का मुख्य प्रयोजन है। क्योंकि—श्रुतपुरुषके ११ एकादशांग और १४ पूर्व अवयवांग है। उपाध्याय उन अंगों वा पूर्वोंको आप पढ़े और परोपकारके लिये अन्य योग्य व्यक्तियो को पढ़ाए। यही मुख्य २५ गुण उपाध्याय जी के हैं। इसका मूल कारण यह है कि—स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान मे लिखा है कि—अनादि संसार चक्र से पार होने के लिए श्री भगवान् ने दो मार्ग बतलाए हैं अर्थात् दो स्थानो से जीव अनादि संसार चक्र से पार होजाते हैं जैसेकि— "विज्जाए चेव चरित्तेण चेव" विद्या और चारित्र से। इस कथनका सारांश यह है कि- जबतक सद् वा आध्यात्मिक विद्या सम्यग्तया उपलब्ध नहीं होती तबतक धार्मिक विषयों मे भी पूर्णतया निपुणता नहीं मिल सकती। धार्मिक विषयों में निपुणता न होने पर फिर आत्मा और कर्मोंका जो परस्पर क्षीरनीरवत् सम्बन्ध होरहा है उसका बोध किस प्रकार होसकता है। यदि कर्म और आत्मा के विषय मे अनभिज्ञता है तो फिर उनके पृथक् २ करने के लिए यत्न किस प्रकार किया जायगा? अतएव प्रथम श्रुतविद्या के अध्ययन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब श्रुताध्ययन भली प्रकार से होगया तो फिर उस श्रुत से निश्चित किये हुए कर्मके सम्बन्ध को आत्मा से पृथक् करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती हैं सो जो क्रियाऐं आत्मा से कर्मों को पृथक् करने के लिये धारण की जाती है, उन्हीं का नाम चारित्र है। इसीलिए शास्त्रकारने पहिले ही यह प्रतिपादन करदिया है कि—विद्या और चारित्र से आत्मा अनादि संसार चक्र से पार होजाते है। इस श्रुत के अध्ययन कराने के लिये उपाध्याय पद नियुक्त किया गया है॥

उपाध्याय जी के २५ गुण कथन किए गए हैं जैसेकि-११ अंगशास्त्र और चतुर्दश १४ पूर्व। एवं श्रुतज्ञान के २५ मुख्य शास्त्रों को आप पढ़े और अन्य योग्य व्यक्तियों को पढ़ावे जिससे श्रुतज्ञान द्वारा अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण होसके। अब भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिये पहले अंगशास्त्रो का किंचित् परिचय दिया जाता है।

२ सूत्रकृताङ्ग सूत्र—इस सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुत के १६ अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कंधके सात अध्ययन हैं--और ३३ इस सूत्रके उद्देश हैं। इसमें इस लोक और अलोक की सूचना है। इतनाही नहीं किन्तु जैनमत के स्याद्वाद मतानुसार जीव वा अजीव की बड़ी विस्तार से व्याख्या की गई है। साथ ही परमत के माने हुए अनेक मतोंका दिग्दर्शन कराया गया है। एवं उन मतों में जो त्रुटियें हैं उनका भी दिग्दर्शन कराया गया है। अन्त में निर्वाण प्राप्ति के लिये पंडित पुरुषार्थ करना चाहिए, इस विषय का विषद् उपदेश किया गया है। ३६ सहस्र (३६०००) इस सूत्र के पद हैं इस सूत्र का उपांग राजप्रश्नीय सूत्र है। इस सूत्रमें महाराज प्रदेशी के माने हुए नास्तिक मत का स्वरूप कथन किया गया है और साथ ही भगवान् श्री-पार्श्वनाथ जी के शिष्यानुशिष्य श्री केशीकुमार श्रमण के साथ जो महाराज प्रदेशी के नास्तिकमत सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हुए हैं वे भी दिखलाए गए हैं। तदनन्तर महाराज प्रदेशी ने जब आस्तिकमत ग्रहण कर लिया और फिर सम्यग्तया श्रावक धर्म का पालन किया उसका फलादेश भी भली प्रकार से दिखलाया गया है। जैनमत वा परमतके स्वरूप को जानने के लिये मुमुक्षु जनों के हितार्थ यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

३ स्थानाङ्ग सूत्र-इस सूत्र मे पदार्थों के भावोंका दिग्दर्शन कराया गया है। एक स्थान से लेकर दश स्थानतक प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप को प्रतिपादन किया गया है। साथ ही सामान्य वा विशेष तथा पक्ष प्रतिपक्ष पदार्थों का स्वरूप दिखलाया गया है। संसार में यावन्मात्र पदार्थ हैं वे प्रतिपक्षी पदार्थों के होने से ही अपनी सत्यता सिद्ध करते हैं यथा-यदि जीव पदार्थ है तब उसी का प्रतिपक्ष अजीव पदार्थ भी है। अजीव पदार्थ के मानने परही जीवपदार्थ की सिद्धि की जासकेगी, जिस प्रकार किसीने कहा कि-यह बड़ा विद्वान् है, ऐसा तभी कहा जायगा जब कहनेवालेको मूर्खोंका भी बोध होगा। इसी प्रकार जब किसी ने कहा कि अमुक पुरुष बड़ा धनी है तब विचार-णीय विषय यह है कि धनी तभी कहा जासकेगा जब कहने वाले को निर्धन का भी ज्ञान होगा। इसी क्रमसे प्रत्येक पदार्थ पक्ष और प्रतिपक्ष के कारण अपनी सत्यता रखता है जैसेकि-जीव-अजीव, लोक-अलोक पुण्य-पाप, आश्रव-संवर वेदना-निर्जरा, बंध-मोक्ष, तथा त्रस-स्थावर सिद्ध और ससार, इत्यादि क्रमसे दश स्थानोंतक पदार्थों का इस सूत्र मे वर्णन किया गया है। साथ ही स्वमत, परमत, कूट, नदी ह्रदादि का बड़ी विचित्र रचना से विवेचन किया गयाहै। इस सूत्र का केवल एक ही श्रुतस्कन्ध है और दश अध्ययन हैं किन्तु इसके उद्देश २१ हैं।

उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया, जयंती ! बहुत से आत्मा बलवान् और बहुत से आत्मा निर्बल ही अच्छे होते हैं। इस प्रकार कहे जाने के पश्चात् फिर जयंती ने शंका उत्पन्न की कि-हे भगवन् ! यह बात किस प्रकार सिद्ध होसकती है ? इस के समाधान में श्री भगवान् ने फिर प्रतिपादन किया कि हे जयंती ! न्याय पक्षी वा न्याय करने वाले जो धर्मरूप आत्माएं हैं वे बलवान् ही अच्छे होते हैं क्योंकि-उनके बलयुक्त होने से पाप कर्म निर्बल होजायगा जिस से बहुत से प्राणियों को सुख प्राप्त हो सकेगा। जब अधर्मात्माओं का बल बढ़ जायगा तब पाप कर्म ही बढ़ता रहेगा। अतएव धर्मात्मा लोग बलवान् अच्छे होते हैं और इसके प्रतिकूल पापात्मा निर्बल ही अच्छे होते हैं क्योंकि-उनके निर्बल होने से पापकर्म भी निर्बल होजायगा। इस प्रकार प्रत्येक प्रश्नोत्तर सरलतया प्रतिपादन किया गयाहै। इस सूत्रके २८८००० पद हैं। प्रत्येक पदमे प्रश्नोत्तर भरे हुए हैं। प्रायः सर्व प्रकार के प्रश्नों के उत्तर श्री वीर भगवान् के मुखार्विंद से निकले हुए है। इसलिये प्रत्येक प्रश्नोत्तर आत्मिक शांति का उद्बोधक है और अलंकार से युक्त है। फिर इसी सूत्र का उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति है । जिस मे सूर्य की गति आदि का वर्णन है। इसे ज्योतिषका शास्त्र माना जाता है। अतएव व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र योग्यतापूर्वक प्रत्येक प्राणी को पठन करना चाहिए॥

६ ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—इस सूत्रमे ज्ञाता-दृष्टांतादि के द्वारा धर्मकथा का वर्णन किया गया है। इस सूत्र के दो श्रुत स्कंध हैं। प्रथम श्रुत के १६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्ययन शिक्षा से भरा हुआ है। साथही प्रत्येक अध्ययन का उपनय ठीक प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि-श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्रीगौतम स्वामी जी ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! जीव लघु (हलका) और गुरु (भारी) किस प्रकार होता है ? इसके उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि-हे गौतम ! पाप कर्मों के करने से जीव भारी हो जाता है फिर उन्हीं पापकर्मों से निवृत्त हो जाने से जीव हलका होजाता है। जिस प्रकार अलांबू (तूंबा) मिट्टी और रज्जु के बंधनों से भारी होकर जल में डूब जाता है परंतु जब उस तूंबे के बंधन टूट जाएँ तब वह निर्बंधन होकर जल के ऊपर आजाता है ठीक इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ, राग तथा द्वेष, क्लेष, आभ्याख्यान (कलंक) परपरिवाद (निंदा) पिशुनता (चुगली) रति और अरति, माया, मृषा और मिथ्यादर्शनशल्य इन पाप कर्मों के करने से जीव भारी होजाता है। जब उक्त पापकर्मों से निवृत्ति हो जाती है तब जीव तूंबकवत् मुक्तबंधन होकर निर्वाणपदकी प्राप्ति करलेता है । इस प्रकार प्रथम श्रुत स्कंध में १६ धार्मिक दृष्टान्त वर्णन किये गए हैं।

केवलज्ञान का प्रकाश न कर सके किन्तु निर्वाणपद की प्राप्ति कर ली जैसेकि-श्री गजसुकुमार आदि महर्षि हुए हैं। इस प्रकार के महर्षियों के जीवन चरित इस सूत्र में दिये गए हैं। इस सूत्र का केवल एक ही श्रुतस्कन्ध है और आठ वर्ग हैं। २३०४००० इस के पदों की संख्या है और निरयावली सूत्र इसका उपांग है। इस उपांग में महाराजा कूणिक और चेटक राजा के संग्राम का वर्णन है। साथ ही नवमल्ली जाति के नौ राजे और नवलच्छी जाति के महाराजे सर्व १८ गणराजों का भी वर्णन किया गया है ।

आजकल जो लोग नूतन से नूतन सांग्रामिक आविष्कारों को देखकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। उक्त सूत्र का अध्ययन करने से उनको यह भली प्रकार से विदित हो जायगा कि-पहिले समय में भी यह भारतवर्ष प्रत्येक शिल्प-कला में बढ़ा चढ़ा हुआ था क्योंकि-उक्त सूत्र में एक रथमूशल संग्राम का वर्णन करते हुए कथन किया गया है कि महाराजा कूणिक ने एक यंत्र ऐसा तय्यार किया था कि-जो रथाकार था परन्तु उसमे अश्वादि कुछ भी नहीं लगे हुए थे। जब वह शत्रु की सेना में छोड़ दिया गया वह अपने आप लाखों पुरुषों का संहार करता हुआ चारों ओर परिभ्रमण करता था। इसी प्रकार वज्रशिला कंटक संग्राम का भी वर्णन किया गया है। कई लोग कहते हैं कि-भारतवर्ष में पहिले लिपि नहीं थी। इस सूत्र के अध्ययन करने से यह बात भी निर्मूल सिद्ध होजाती है।

९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्र—इस सूत्रमे जो व्यक्ति तप संयम के बल से विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध नामक पांच अनुत्तरविमानों मे उत्पन्न हुए हैं उनके नगर, राज्य, माता पिता, वनखंडादि का वर्णन किया गया है। तथा जिस प्रकार उन आत्माओं ने परम समाधिरूप तपकर्म धारण किया उस तपकर्म का भी दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे काकंदी नगरी के रहने वाले धन्नाकुमार जी के तप का विवरण है जो एक भव धारण कर मोक्ष गमन करेंगे। उस जन्म के भव का भी वर्णन किया गया है जैसेकि-आर्यकुलादि मे जन्म धारण, फिर महामुनियों की संगति द्वारा धर्मप्राप्ति, दीक्षाग्रहण और श्रुताध्ययन तथा तपोकर्म से केवलज्ञान, अत में निर्वाणपद की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इस सूत्र का एक श्रुत-स्कन्ध-और तीन वर्ग हैं। ४६ लक्ष आठ हजार इसके पदो की संख्या है। इसका उपांग कल्पवत्तसिका सूत्र है॥

१०-प्रश्नव्याकरण सूत्र—इस सूत्र मे पृष्ट और अपृष्ट सैकड़ों प्रश्नों का तथा अनेक प्रकार की चमत्कारिक विद्याओं का दिग्दर्शन था जैसेकि—मन प्रश्न-विद्या तथा देवताओं के साथ वाद करने की विधि, अंगुष्ट प्रश्नादि विद्याओं का भी वर्णन था परन्तु आजकल उक्त सूत्र मे केवल पांच आश्रव, जैसे—हिंसा,

हैं जैसेकि—संकलित १ व्यवकलित २ गुणाकार ३ भागकार ४ वर्ग ५ घन ६ वर्गमूल ७ घनमूल ८ अघसमच्छेदकरणं ९ समच्छेदमीलन १० भिन्नगुणाकार ११ भिन्नभागकार १२ भिन्नविचार १३ भिन्न घन १४ भिन्नवर्गमूल १५ भिन्नघन-मूल १६ इन सूत्रों के द्वारा फिर ७ प्रकार के परिक्रमों का विस्तारकर दृष्टिवा· दांग के प्रथम भेद की समाप्ति कीगई है।

दृष्टिवादांग का द्वितीय भेद सूत्ररूप है—इस भेद मे सर्वद्रव्यपर्यायों. नयों वा भंगों के आश्रित होकर ८८ सूत्रोंका विस्तार किया गया है॥

दृष्टिवादांगसूत्र का—पूर्वनामक तृतीय भेद है क्योंकि—जब तीर्थंकर देव गण-धरादि को दीक्षा प्रदान करते हैं तब वे दीक्षा लेकर त्रिपदी मंत्र के (उत्पात्—व्यय-ध्रौव्य) पहिले चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान का अनुभव करते हैं। इसलिये इनकी पूर्व संज्ञा हैं। उन पूर्वों के नाम निम्न प्रकार से वर्णन किये गए हैं। जैसेकि—उत्पातपूर्व—इस पूर्वमे सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों को अधिकृत्य करके सर्व पदार्थों का वर्णन किया गया है। १ करोड़ पद, दश वस्तु और चार चूलिका वस्तु इस के अध्ययन वि-शेष हैं। यदि इस पूर्व को लिखा जाय तो एक हाथी के प्रमाण मषी (स्याही) लगती है। यह अनुभवी ज्ञान होता है परन्तु लिखनेमे नहीं आसक्ता। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। हाथियों की संख्या आगे दुगणी होती चली जायगी। २ आग्रायणीयपूर्व—इस पूर्व मे सर्व द्रव्य और पर्याय और जीव विशेष सर्व द्रव्यों का सविस्तर वर्णन किया गया है। (अग्र परिमाणं तस्य अयन गमन परिच्छेद इत्यर्थ. तस्मै हितं आग्रायणीयं) अर्थात् सर्व द्रव्यो और पर्यायों का भेद विस्तृत किया हुआ है। इस पूर्व के ९६ सहस्र पद हैं, १४ वस्तु और १२ चूलिका वस्तु हैं परन्तु लिखनेमे दो हस्तिपरिमाण मषी लग सकती है॥ ३ वीर्यप्रवादपूर्व—इस पूर्व में सर्व द्रव्यो के वा सर्व पर्यायों के तथा सर्व जीवों के वीर्य की व्याख्या की गई है और ८ वस्तु तथा ८ ही चूलिकावस्तु हैं। सप्तति सहस्र (७० हजार) इसके पदों की संख्या है। स्याही का परिमाण आगे से दुगुणा करते चले जाना चाहिए तथा अंत मे सर्व परिमाण दिया जायगा। ४ अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व—इस पूर्व मे सर्व द्रव्यों के अस्ति वा नास्ति भावों का वर्णन किया गया है, क्योंकि—सर्व द्रव्य निज गुणों की अपेक्षा तो अस्ति भाव के धारण करने वाले हैं परन्तु पर गुणों की अपेक्षा देखा जाय तो इनमे नास्ति-भाव भी ठहर जाता है। अतएव इस पूर्व मे अस्तिभाव और नास्तिभाव का सविस्तर कथन किया गया है। १८ वस्तु और दश चूलिकावस्तु इस पूर्व के हैं। ६० लक्ष इसके पदों की संख्या है। ५ ज्ञान प्रवाद पूर्व—इस पूर्व मे ५ ज्ञानों की सविस्तर व्याख्या की गई है तथा ज्ञान वा अज्ञान के भेदो का पूर्ण स्वरूप प्रति-पादन किया गया है। १२ वस्तु है और एक करोड़ इस पूर्व के पदों की संख्या है

ही रेचक, पूरक और कुंभक तथा द्रव्य और भाव प्राणायाम का वर्णन किया गया है। यावन्मात्र शरीर में वायु हैं उनकी गति वा उनका निरोध, साथ ही निरोध का शारीरिक वा आत्मिक फल इन सब बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस पूर्वके १३ वस्तु हैं और एक करोड़ ५६ लक्ष इस के पदों की संख्या है। १३ क्रियाविशालपूर्व—इस पूर्व में यावन्मात्र क्रियाएं हैं उन सब का सविस्तर स्वरूप वर्णन किया गयाहै जैसे कि–कायिकी क्रियादि तथा पठक्रिया, छन्दक्रिया, सारांश इतना ही है कि--क्रिया शब्द की व्याख्या भली प्रकार से कीगई है और इस पूर्व के ३० वस्तु हैं तथा नव करोड़ इसके पदों की संख्या है। १६ लोकविन्दुसार पूर्व—लोक में विन्दुवत् सारभूत पदार्थों के वर्णन करनेवाला यह पूर्व है क्योंकि–जिसप्रकार अक्षर के मस्तक पर विन्दु सारभूत होता है ठीक उसी प्रकार जगत् में यह पूर्व सारभूतहै और इस पूर्व के २५ वस्तु हैं तथा साढे बारह करोड़ इस के पदों की संख्या है। इस प्रकार संक्षेप से १४ पूर्वों के समास विषय वर्णन किया गया है॥

सोलह हजार तीनसौ ८३ हाथियोंके प्रमाण मषीसे यह १४ पूर्व लिखे जाते हैं परन्तु यह पूर्वों के ज्ञान विषय उपमा दी गई है परंच यह विद्या लिखने में नहीं आसक्ती। यह सब विद्या केवल अनुभव के विचार पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार दृष्टिवादांग के तृतीय भेदका वर्णन किया गया है। चतुर्थ भेद अनुयोगरूप है। सो वह अनुयोग दो प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसेकि मूल प्रथमानुयोग, और गंडिकानुयोग-१ मूल प्रथमानुयोग–में तीर्थंकरों के पूर्व जन्म का वृत्तान्त, जिस जन्म में उनको सम्यक्त्व का लाभ हुआ उस जन्म से लेकर उनके सर्व जन्मो का अधिकार, स्वर्गीय सुख, स्वर्ग की आयु का परिमाण, वहां से च्यवकर माता के गर्भ में आना, फिर जन्म, देवों द्वारा जन्मोत्सव किया जाना, फिर योग्य अवस्था होजाने पर दीक्षा, विहार, तपोविशेष, केवलोत्पत्ति, जिनपद भोग, सिद्ध गमन इत्यादि विषयों का सविस्तर वर्णन पाया जाता है। इतना ही नहीं श्रीसंघ की स्थापनादि विषयों का भी उल्लेख है। २ गंडिकानुयोग-इस अनुयोगमे कुलकरों, तीर्थंकरों, बलदेवों, वासुदेवों, गणधरों, हरिवंश आदि कुलों की गंडिकाओंका वर्णन किया गया है। यह अनुयोग ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है क्योंकि–सब विषयों का बड़ी विचित्र रीति से वर्णन किया हुआ है। उक्त अनुयोग होनेसे यह दृष्टिवादांग का चतुर्थ भेद है। पांचवां भेद दृष्टिवादांग का चूलिकारूप है क्योंकि–जो परिक्रम सूत्र और पूर्व तथा अनुयोग मे वर्णन किया गया है उन सबका सारांश चूलिका प्रकरण में प्रतिपादन किया हुआ होता है। सो यह सब प्रसंगवश लिखा गया है परन्तु ११ एकादशांगशास्त्र और चतुर्दश पूर्व यह सब मिलकर २५ होते हैं॥

सम्यग्तया गच्छ की रक्षा करने से निर्वाणपद की निश्चय ही प्राप्ति कर लेते हैं। अतएव उक्त दोनों उपाधिधारियों को योग्य है कि—वे अपने कर्त्तव्य को ठीक तौर पर पालन करें और अनेक भव्य आत्माओं को धर्म पथ में स्थापन करके कल्याण के भागी बनें। सो गुरु पद में आचार्य और उपाध्याय का वर्णन किये जाने पर अब साधु विषय में कहा जाता है। यद्यपि साधु पद में आचार्य और उपाध्याय दोनों ही गर्भित हैं तथापि उपाधि के विशेष होने से इनका पृथक् वर्णन किया गया है। परन्तु साधुपद के गुण सब में एक समान ही होते हैं॥

सत्तावीसं अणगारगुणा पणत्ता तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं सोइंदियनिग्गहे चक्खिंदिय निग्गहे घाणिंदियनिग्गहे जिब्भिंदिय निग्गहे फासिंदिय निग्गहे कोहाविवेगे माणविवेगे मायाविवेगे लोभाविवेगे भावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमा विरागया मणसमाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया णाणसंपएणया दंसण संपएणया चरित्त संपएणया वेयण अहियासणया मारणंतिय अहियासणया॥

समवायांग सूत्र स्थान २७ वां॥

टीका—सप्तविंशति स्थानमपि व्यक्तमेव, केवलं पद सूत्राणि स्थितेरर्वाक्, तत्र अनगाराणां—साधूनां गुणाः चारित्र विशेष रूपाः अनगारगुणा तत्र महाव्रतानि पञ्चेन्द्रियनिग्रहाश्च पंच क्रोधादि विवेकाश्चत्वार सत्यानि त्रीणि तत्र भावसत्यं शुद्धान्तरात्मना करणसत्यं—यत्प्रतिलेखनाक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः कुरुते योगसत्यं—योगानां-मनः प्रभृतीनाम वितथत्वं १७ क्षमा अनभिव्यक्त क्रोधमानस्वरूपस्यद्वेपसज्जितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः अथवा क्रोध मानयोरुदय निरोधः क्रोधमान विवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागेवाभिहित इति न पुनरुक्तता। अप्रीतिः १८ विरागता अभिष्वङ्ग मात्रस्याभावः अथवा मायालोभयोरनुदयो माया लोभ विवेकशब्दाभ्यां तूदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागभिहित-इतीहापि न पुनरुक्ततेति १६ मनोवाक्कायानां समाहरणता पाठान्तरतः समन्वाहरणता—अकुशलानां निरोधास्त्रयः २२ ज्ञानादिसंपन्नतास्तिस्त्रः २५ वेदनातिसहनता—शीतादि-अतिसहन २६ मारणांतिकातिसहनता—कल्याण बुद्धया मारणांतिकोपसर्गसहनमिति २७॥ इति सप्तविंशतिगुणा भिक्षूणां कथिता वा प्रतिपादिताः॥

भावार्थ-श्री भगवान्‌ने साधुके सत्ताईस गुण प्रतिपादन किये हैं क्योंकि—गुणों से ही साधुत्व होता है नतु वेप धारण करने से यद्यपि मनुष्यत्व

त्याग करे। जब उसकी प्राणीमात्र से मैत्री होगई तब उसके मन मे मालिन भाव किस प्रकार उत्पन्न हो सकेंगे ? जब मलिन भावों का निरोध किया गया तब उसको अशांति किस प्रकार हो सकती है अर्थात् कदापि नहीं । फिर यह बात सदा मानी हुई है कि-वैरसे वैर नही जाता किन्तु शांतिसे वैर मारा जासकता है। अत. जब प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्ति करली गई तब उस महापुरुष का प्राणीमात्र से बिल्कुल वैर नष्ट हो गया। जिसका परिणाम यह निकला कि- उस महापुरुष का पवित्र आत्मा विश्व उपकार मे प्रवृत्त होजायगा क्योंकि-वह स्वयं प्रेममूर्त्ति बनकर अन्य जीवों को प्रेममूर्त्ति बनाएगा। स्मृति रहे कि- अहिंसाव्रत की पालना शूरवीर आत्माएं ही करसकती है न तु कातर आत्माएं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-हिंसा कहते किस को है ? इस के उत्तर में तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र में लिखा है कि-"प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमाद के योग से जो प्राणों का नाश करना है उसी का नाम हिंसा है। यदि साधु अप्रमत्त भाव से विचर रहा है तब वह हिंसा के दोप का भागी नहीं बनता है।

इस प्रकार जिस आत्मा ने करना, कराना, अनुमोदना तथा मन, वचन और काय के द्वारा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजोकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पांचस्थावरों, दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे सीप, शंख. जोक आदि है जिन के केवल स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय है, तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे-जूं, लीख, ढोरा. सुरसली आदि है उनके केवल स्पर्श, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय होती है, फिर चार इंद्रिय युक्त जीव जैसे मक्खी, मच्छर, पतंगिया, बिच्छू इत्यादि है, इन जीवों के केवल स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय होती है, पचेन्द्रिय वाले जीव जैसे जलचर (मत्स्यादि स्थलचर (गवादि) खेचर (पक्षी) मनुष्य, देव, नारकीय इन के स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पंचेन्द्रिय होती हैं इत्यादि सब जीवों की हिंसा का परित्याग कर दिया है वही साधु है। इस व्रत की रक्षा करने के वास्ते श्री भगवान् ने पांच भावनाएं प्रतिपादन की है क्योकि जिस प्रकार महोघ वाले जल को नावा द्वारा तथा समुद्र को यानपात्र द्वारा लोग पार कर लेते है ठीक उसी प्रकार ससार समुद्र से पार होने के लिये भावनाएं प्रतिपादन कीगई है। इन्हीं भावनाओं द्वारा आत्मा अपना कल्याण करसकता है। सो प्रथम महाव्रत की ५ भावनाएं इस प्रकार कथन कीगई है जैसेकि—

पुरिम पच्छिम गाणं तित्थगराण पंच जामस्स पणवीसं भावणाओ पएणत्ता तंजहा—ईरियासमिई मणगुत्ती वयगुत्ती आलोय भायण भोयणं आदाण भंडमत्त निक्खेवणासमिई ५

और काय तथा करना, कराना और अनुमोदना अर्थात् तीनों योग और तीनों करणों से परित्याग करना चाहिए। इस व्रत की निम्नलिखित पांच भावनाएँ रक्षक हैं जैसे कि-

अणुवीतिभासणया १ कोहविवेगे २ लोभविवेगे ३ भयविवेगे ४ हासविवेगे ५

१ अनुविचिन्त्यभाषणसमिति—विना विचार किये कदापि भाषण न करना चाहिए। शीघ्रता और चपलतासे भाषण करना भी वर्जनीय है। कटु शब्दों का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। तभी सत्य वचन की रक्षा हो सकती है।

२ क्रोधविवेक-क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि-क्रोधी मनुष्य असत्य, पिशुनता, कठिन वाक्य कलह, वैर इत्यादि अवगुणोको उत्पन्न कर लेता है और सत्य, शील तथा विनयादि सद्गुणों का नाश कर लेता है। क्रोधरूपी अग्नि को उपशान्त करने के लिये क्षमारूपी महामेघ की वर्षा होनी चाहिए।

३ लोभविवेक-प्राणी लोभके वशीभूत होकर भी सत्य का नाश कर बैठता है। यावन्मात्र संसार में मनोऽनुकूल पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति की जब उत्कट इच्छा बढ़ जाती है तब सत्य की रक्षा कठिन होजाती है। अतएव सन्तोष द्वारा सत्य की रक्षा के लिए लोभ का परिहार कर देना चाहिए।

भयविवेक—सत्यवादी को किसीका भी भय नहीं होना चाहिए क्योंकि-भययुक्त आत्मा सत्य की रक्षा करने मे असमर्थ होजाता है। कहते हैं कि-भययुक्त आत्मा को ही भूत प्रेत छला करते है। भययुक्त आत्मा सत्य कर्मों से पराङ्मुख होजाता है अतएव सत्यवादी धैर्य का अवलम्बन करता हुआ सत्यव्रत की रक्षा कर सकता है। भय के वशीभूत होकर कई बार झूठ बोला जाता है। इस लिये भय से विमुक्त होने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए।

६ हास्यविवेक—सत्यवादी को किसी का उपहास भी न करना चाहिए कारण कि—हास्य रस का पूर्व भाग तो बड़ा प्रिय होता है परन्तु उत्तर भाग परम भयानक और नाना प्रकार के क्लेषों के उत्पन्न करनेवाला होजाता है। यावन्मात्र क्लेश हैं उन के उत्पन्न करने वाला हास्यरस ही है। अतएव सत्यव्रत की रक्षा के लिये हास्यरस का आसेवन कदापि न करना चाहिए। इस विधि से द्वितीय महाव्रत की पालना करनी चाहिए।

३ अदित्तादानविरमण—तदनन्तर चौर्यकर्म से निवृत्तिरूप तृतीय महाव्रत का यथोक्त रीति से पालन करना चाहिए। जितने सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थ हैं चाहे वह अल्प हैं वा वहुत, जीव हैं वा अजीव, जिनके वे आश्रित होरहे हैं

१ स्त्रीपशुपंडकसंसक्तशयणासनवर्जनता--ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से जो स्थान संसक्त होरहा हो उसे वर्जना चाहिए कारण कि–उस स्थान में रहने से कामोद्दीपन की संभावना है जिसका परिणाम ब्रह्मचारी के लिये परम भयानक होगा।

२ स्त्रीकथाविवर्जनता—ब्रह्मचारी पुरुष काम के जागृत करनेहारी स्त्री कथा कदापि न करे और नांही स्त्रियों में बैठ कर उक्त प्रकार की कथाओं का प्रयोग करे क्योंकि–वार २ स्त्रीकथा कहने से उसका मन किसी समय विच-लित अवश्यमेव हो जायगा अतः ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की रक्षाके लिये काम-जन्य स्त्रीकथा कदापि न करनी चाहिए।

३ स्त्री आलोकनवर्जनता—कामदृष्टि से स्त्रियों की इन्द्रियों को न देख-ना चाहिए क्योंकि स्त्रियों की कामजन्य चेष्टाओं को देखते हुए उसके मन में कामविकार अवश्यमेव उत्पन्न होजायगा। स्त्री के शरीर का संस्थान, उस का वर्ण, उसके हाथ, पाद, आंखें, लावण्य, रूप, यौवनावस्थादि के देखने से संयम की समाधिका नाश हो जायगा॥

४ पूर्व क्रीडा अननुस्मरणता—यदि पहिले गृहस्थपर्याय मे नाना प्रकार की कामचेष्टाएं की हों तो उनकी स्मृति न करे क्योंकि–उन चेष्टाओं की स्मृति से काम अवश्यमेव जागृतावस्था में आजायगा तथा जो वालब्रह्मचारी हैं वे साहित्य ग्रंथोंमें पढ़े हुए स्त्री चरित्र की पुन २ स्मृति न करें क्योंकि–आत्मा विकार दशा को प्राप्त होजाता है जिस कारण फिर ब्रह्मचर्य में वाधा उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

५ प्रणीताहारवर्जनता—ब्रह्मचारी को स्निग्ध आहार न सेवन करना चाहिए जैसेकि—क्षीर, दुग्ध, दधि, सर्पिस्, नवनीत, तेल, गुड़ मतस्यंडी आदि। तथा जिन पदार्थों के आसेवन करने से उन्माद वा विकार उत्पन्न होता हो उनका भी आसेवन करना उचित नहीं। कारणकि–मादक द्रव्य शरीर को पुष्टि देकर आत्मा में विकार उत्पन्न कर देते है जिसका परिणाम ब्रह्म-चारी के लिये हितकारी नहीं होता। अतएव इन पांच भावनाओं द्वारा ब्रह्म-चर्य व्रत की रक्षा करनी चाहिए।

५ परिग्रहाविरमण–पंचम महाव्रत जो अपरिग्रहरूप है उसका अन्तःकरण से पालन करना चाहिए। अल्प वा महत्, अणुरूप वा स्थूलरूप, चेतनायुक्त हो अथवा जड़ सबसे मूर्च्छा का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई कहे कि—जो साधु के पास वस्त्र पात्रादि है क्या यह परिग्रह नहीं है। इस शंका का समाधान दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में इस प्रकार किया गया है:—

प्रकार के सुंदर रस उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थ आवें तब प्रसन्न न होना चाहिए एवं यदि मन के प्रतिकूल भोज्य पदार्थ खाने को मिलें तब द्वेष न करना चाहिए।

पदार्थों का जिस प्रकार का स्वभाव है वे उसी प्रकार अपना रस दिखलायेंगे। इसलिए उनके मिलने पर राग द्वेष क्यों किया जाय?

५ स्पर्शेन्द्रियरागोपरति–यदि मनके अनुकूल स्पर्श उपलब्ध हो तब उन पर राग उत्पन्न न करना चाहिए एवं यदि मन के प्रतिकूल स्पर्श मिले तब द्वेष भी न करना चाहिए। इस कथन का सारांश इतना ही है कि–शय्या वस्त्रादि-मनोऽनुकूल मिल जाने पर प्रसन्नता एवं मार पीट वा अंगोपांग के छेदन करने वाले पर द्वेष यह दोनों भाव उत्पन्न न करने चाहिएं। जब आत्मा के अन्तःकरण से शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पांचों विषयों पर राग और द्वेषके भाव उत्पन्न न होंगे तब वह आत्मा दृढ़तापूर्वक उक्त पांचों महाव्रतों का पालन कर सकेगा। अतएव पांचों महाव्रतों को २५ भावनाओं द्वारा शुद्ध पालन करना चाहिए। यदि ऐसे कहा जाय कि–पांच महाव्रतों की २५ भावनाएं तो कथन की गई हैं किन्तु छठा रात्रिभोजन विरमणव्रत का कहीं भी वर्णन नहीं है और नां ही उसकी भावनाओं का कथन आया है॥ इस प्रश्न का उत्तर यह है कि–प्रथम तो प्रायः रात्रि को अति शीतादि के पड़ने से बहुत से पदार्थों की सचित्त हो जाने की संभावना की जा सकती है द्वितीय-तमस (अन्धकार) के सर्वत्र विस्तृत हो जाने से भली प्रकार जीव रक्षा भी नहीं हो सकती अतएव इस व्रत का प्रथम महाव्रत में ही समावेश हो जाता है अर्थात् जीवरक्षा सम्बन्धी यावन्मात्र कर्त्तव्य हैं वे सब पहले महाव्रत के ही अन्तर्गत होते हैं।

तत्पश्चात् पांचों इन्द्रियों के जो शब्दादि विषय हैं मुनि उन पर राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले भावो का परित्याग करे जैसे कि–

६ श्रोतेन्द्रिय निग्रह–श्रोतेन्द्रिय के तीन विषय हैं यथा जीव शब्द १ अजीव शब्द २ और मिश्रित शब्द ३। मुखसे निकला हुआ जीव शब्द कहा जाता है। पुद्गल के स्कन्धादि के सयोग या विभाग के समय जो शब्द उत्पन्न होता है उसे अजीव शब्द कहते हैं। जो दोनों के मिलने से शब्द उत्पन्न होता है उसे मिश्रित शब्द कहते हैं जैसे शंखादि का बजना।

७ चक्षुरिन्द्रिय निग्रह—चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय हैं जैसेकि–श्वेतवर्ण १ रक्तवर्ण २ पीतवर्ण ३ नीलवर्ण ४ और कृष्णवर्ण ५ इन पांचो ही विषयों मे जो प्रिय हैं उनपर राग न करना चाहिए और जो अप्रिय हैं उनपर द्वेष न करना चाहिए।

आवश्यक में गुरु और उसके गुण तथा शिष्य की भक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

४ प्रतिक्रमणावश्यक–अपने ग्रहण किये हुए व्रतों में जो कोई अतिचार लगगया हो तो उससे पीछे हटने की चेष्टा करना तथा पीछे हटना–इसे प्रतिक्रमणावश्यक कहते है।

५ कायोत्सर्गावश्यक–ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करना अर्थात् ध्यानस्थ हो जाना।

६ प्रत्याख्यानावश्यक–अतिचारोंकी शुद्धि वा आत्मशुद्धि के लिये प्रत्याख्यान (किसी पदार्थ का त्याग) करना। यह छै क्रियाएँ अवश्य करणीय है इसी लिये इन्हें षडावश्यक कहते है। द्रव्य और भाव रूप से यह छै प्रतिदिन अवश्यमेव करने चाहिएं।

जब षडावश्यक शुद्धरूप से पालन किये जाएं तब फिर आठ ही समिति और गुप्तियें जो प्रवचनमातृ है उन्हें अवश्यमेव क्रियारूप में लाना चाहिए अर्थात् आठ प्रवचन माता में नित्य ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। जैसेकि—५ समिति और तीन गुप्ति। इनका विवरण संक्षेप से नीचे किया जाता है यथा—१ ईर्यासमिति–सम्यक्तया जिससे चारित्र की पालना की जावे उसे समिति कहते हैं। सो "ईरणं ईर्या काय चेष्टा इत्यर्थः तस्या समिति शुभोपयोगः" अर्थात् चलते हुए उपयोगपूर्वक चलना चाहिए जैसेकि—निज शरीर प्रमाण भूमि को आगे देखकर चलना चाहिए तथा आसन पर बैठते समय वा धर्मोपकरण पहिरते समय विशेष उपयोग होना चाहिए। इसी प्रकार शयन करते समय भी पादपसारणादि क्रियाएं कुर्कुटवत् होनी चाहिएं। सारांश इतना ही है कि यावन्मात्र चलना आदि कार्य है वे सब यत्नपूर्वक ही होने चाहिएं। २ भाषासमिति—भाषण करते समय क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्यादि के वशीभूत होकर कदापि भाषण न करना चाहिए। अपितु मधुर और स्तोक अक्षरो से युक्त प्राणीमात्रके लिए हितकर वचनो का प्रयोग करे एवं जिस के भाषण करने से किसी प्राणी को हानि पहुंचती हो अथवा भाषण से कोई सारांश न निकलता हो ऐसे व्यर्थ और विकथारूप भाषणों का प्रयोग न करे। एषणासमिति—शुद्ध और निर्दोश आहार पानी की गवेषणा करनी चाहिए अपरंच जो अन्न पानी सदोष अर्थात् साधुवृत्ति के अनुकूल नही है उसे कदापि ग्रहण न करे। आहार पानी के शास्त्रकारो ने ४२ दोष प्रतिपादन किये है जैसेकि—सोलह प्रकार के उद्गम दोष होते है जो साधु को दातार के द्वारा लगते है अतएव साधु को भिक्षाचरी के समय विशेष सावधान रहना चाहिए जिससे उक्त दोषों में से कोई दोष न लगसके जैसेकि—

लोभे य लोभे य हवंति दसएए ३ पुव्वि–पच्छा संथवं विज्जा मंते य चू-
एण जोगे य उप्पायणा इ दोसा सोलसमे मूलकम्मेय ४

अर्थ-१ धाई (धात्री) धाय का काम करके आहारादि लेवे तो दोष। २ दूई (दूती) दूतपना जैसे गृहस्थी का सन्देशा पहुंचा कर आहारादि लेवे तो दोष। ३ निमित्ते (निमित्त) भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल के लाभालाभ, सुखदुःख, जीवन मरणादि बतलाकर आहारादि लेवे तो दोष। ४ आजीव- (आजीविका) अपना जाति कुल आदि प्रकाश कर आहारादि लेवे तो दोष। ५ वणीमगे (वनीपकः) रांक भिखारी की तरह दीनपना से मांगकर आहारादि लेवे तो दोष। ६ तिगिच्छे (चिकित्सा) वैद्यक-चिकित्सा करके आहारादि लेवे तो दोष। ७ कोहे (क्रोध) क्रोध करके आहारादि लेवे तो दोष ८ माणे (मान) अहकार करके लेवे तो दोष। ९ माया (कपट) करके लेवे तो दोष। १० लोभे (लोभ) लोभ करके अधिक आहारादि लेवे अथवा लोभ बतला कर लेवे तो दोष। ११ पुव्वि पच्छा संथव (पूर्वपश्चात् संस्तव) पहले या पीछे दातार की प्रशंसा करके आहारादि लेवे तो दोष। १२ विज्जा (विद्या) जिसकी अधिष्टाता देवी हो अथवा जो साधना से सिद्ध की गई हो उसको विद्या कहते है ऐसी विद्या के प्रयोग से आहारादि लेवे तो दोष। १३ मंते (मंत्र) जिसका अधिष्टाता देव हो अथवा बिना साधना के अक्षर विन्यास मात्र हो उसको मंत्र कहते हैं ऐसे मंत्र का प्रयोग करके आहारादि लेवे तो दोष। १४ चुएण (चूर्ण) एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक प्रकार की सिद्धि हो ऐसा अदृष्ट अंजनादि के प्रयोग से आहारादि लेवे तो दोष। १५ जोगे (योग) पाद (पग) लेपनादि सिद्धि बतलाकर आहारादि लेवे तथा वशीकरण मंत्रादि सिखलाकर वा स्त्रीपुरुष का संयोग मिलाकर आहारादि लेवे तो दोष। १६ मूल कम्मे (मूल कर्म)—गर्भपातादि औषध बतलाकर आहारादि लेवे तो दोष अर्थात् किसी ने साधु के पास अपने गुप्त दोष का कारण बतला दिया फिर यह भी बतला दिया कि–अब गर्भ भी स्थिर रह गया है तब साधु उसको गर्भपातादि की औषध बतलावे तो उस साधु को महत् दोष लगता है।

इस प्रकार सोलह दोष उत्पाद के वर्णन किये गए हैं। अब १० दोष एषणा के कहे जाते है जो साधु और गृहस्थ दोनो के कारण लगते है।

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहियसाहरियदाय गुम्मीसे अपरिणय लित्त छड्डिय एसणा दोसादसहवंति ५।

अर्थ—संकिय (शंकित) गृहस्थी को तथा साधु को शंका पड़ जाने

को व्युत्सृज करना चाहिए जिससे जीवहिंसा और घृणा उत्पन्न न हो।

पांचों समितियों के पश्चात् तीनों गुप्तियों का भी सम्यक्तया पालन करना चाहिए जैसेकि—

१ मनोगुप्ति—मनमें सद् और असद् विचार उत्पन्न ही न होने देना अर्थात् कुशल और अकुशल संकल्प इन दोनों का निरोध कर केवल उपयोग दशा में ही रहना । २ वागुगुप्ति—जिस प्रकार मनोगुप्ति का अर्थ किया गया है ठीक उसी प्रकार वचनगुप्ति के विषय में भी जानना चाहिए । ३ कायगुप्ति—इसी प्रकार असत् काय-व्यापारादि से निवृत्ति करनी चाहिए।

सो यह सब आठों प्रवचनमाता के अंक करणसत्य गुण के अन्तर्गत हो जाते हैं । शरीर, वस्त्र, पात्र, प्रतिलेखनादि सब क्रियाएं भी उक्त ही अंक के अन्तर्गत होती है। यही मुनि का सोलहवाँ करणसत्य नामक गुण है ।

१७ योग सत्य—संग्रहनय के वशीभूत होकर कथन किया गया है कि—मन वचन और काय यह तीनों योग सत्यरूप में परिणत होने चाहिएं क्योंकि—इन के सत्य वर्तने से आत्मा सत्य स्वरूप में जा लीन होता है।

१८ क्षमा—क्रोध के उत्पन्न होजाने पर भी आत्मस्वरूप में ही स्थित रहना उस का नाम क्षमा गुण है क्योंकि—क्रोध के आजाने पर प्रायः आत्मा अपने स्वरूप से विचलित होजाता है इस लिए सदा क्षमा भाव रखे।

१९ विरागता—संसार के दुःखों को देखकर संसार चक्र के परिभ्रमण से निवृत्त होने की चेष्टा करे।

२० मन समाहरणता—अकुशल मनको रोक कर कुशलता में स्थापन करे। यद्यपि यह गुण योग सत्य के अन्तर्गत है तद्पि व्यवहार नय के मत से यह गुण पृथक् दिखलाया गया है।

२१ वाग्समाहरणता—स्वाध्यायादि के विना अन्यत्र वाग्योग का निरोध करे क्योंकि—यावन्मात्र धर्म से सम्बन्ध रखने वाले वाग् योग हैं वे सर्व वाग्समाहरणता के ही प्रतिबोधक है परन्तु इन के विना जो व्यर्थ वचन प्रयोग करना है वह आत्मसमाधि से पृथक् करने वाला है।

२२ काय समाहरणता—अशुभ व्यापार से शरीर को पृथक् रखे। व्यवहारनय के वशीभूत होकर यह सब गुण पृथक्रूप से दिखलाए गए है।

२३ ज्ञान संपन्नता—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों से संपन्न होना उसे ज्ञानसंपन्नता कहते हैं। चार ज्ञान तो क्षयोपशम भाव के कारण विशदी भाव से प्रकट होते है किन्तु केवलज्ञान केवल क्षय भाव के प्रयोग से ही उत्पन्न होता है । सो जिस प्रकार क्षायिक

विशुद्धि तप की समाप्ति करते हैं सो इसीका नाम परिहार विशुद्ध चारित्र है॥ सूक्ष्म संपराय चारित्र उस का नाम है जिसमें लोभ कषाय को सूक्ष्म किया जाता है। यह चारित्र उपशम श्रेणि वा क्षपक श्रेणि में देखा जाता है। उपशमश्रेणि १० वे गुणस्थान पर्यन्त रहती है॥

अपरंच यथाख्यात चारित्र उसे कहते हैं जिससे मोहकर्म उपशम वा क्षायिक होकर आत्मगुण प्रकट होजाते हैं। सो इन पांचों चारित्रों की सम्यग्तया आराधना करना उसे ही चारित्रसंपन्नता कहते हैं।

२६ वेदनाध्यासना—वेदना के सहन करने वाला जैसेकि-मनुष्यकृत देवकृत तथा तिर्यग्कृत उपसर्गों में से किसी भी उपसर्ग के सहन करने का समय जब उपस्थित होजावे तब उस उपसर्ग को सहन करे। वेदना शब्द से २२ परीषह भी लिये जाते हैं सो उन परीषहों को सहन करे। इनके अतिरिक्त कोई अन्य वेदना सहन करने का समय उपस्थित होजावे तो उस को भी सम्यग्तया शास्त्रोक्त रीति से सहन करे जिससे कर्म निर्जरा होने के पश्चात् सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति हो।

(प्रश्न) वे २२ परीषह कौन से हैं जिन के सहन करने से कर्मों की निर्जरा और सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होजाती है ?

(उत्तर) वे २२ परीषह निम्न कथनानुसार हैं जिन के सम्यग्तया सहन करने से आत्मा कर्मों की निर्जरा करके सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करलेता है जैसेकि—

बावीस परीसहा प.-तं०—दिगिंच्छा परीसहे १ पिवासा परीसहे २ सती परीसहे ३ उसिण परीसहे ४ दंसमसग परीसहे ५ अचेल परीसहे ६ अरइ परीसहे ७ इत्थी परीसहे ८ चरिया परीसहे ९ निसीहिया परीसहे १० सिज्जा परीसहे ११ अकोस परीसहे १२ वह परीसहे १३ जायणा परीसहे १४ अलाभ परीसहे १५ रोग परीसहे १६ तणफास परीसहे १७ जल्ल परीसहे १८ सक्कार पुरक्कार परीसहे १९ पण्णा परीसहे २० अण्णाण परीसहे २१ दंसण परीसहे २२

समवायाग सूत्र-स्थान-२२

वृत्ति—द्वाविंशतितम तु स्थान प्रसिद्धार्थमेव नवरं सूत्राणि षट् स्थितेरर्वाक्, तत्र मार्गा च्यवन निर्जरार्थं परीषह्यन्ते इति परीषहाः—"दिगिंछ"त्ति बुभुक्षा सैव परीषहो दिगिञ्छ परीषह इति सहन चास्य मर्यादानुल्लङ्घनेन, एव मन्यत्रापि १ तथा पिपासा-तद् शीतोष्णे प्रतीते ३–४ तथा दशाश्च मशकाश्च दंशमशका उभयेऽप्येते चतुरिन्द्रिया महत्त्वा महत्कृतश्चैषा विशेषोऽथवा दशो-

८ स्त्रीपरीषह—कामवासना से मनको हटाकर संयमरूपी आराम (बाग) में रमण करे किन्तु स्त्रियादि के विकारों में तनक भी मन न लगावे।

९ चर्यापरीषह–विहार के कष्ट को सहन करता हुआ ग्रामादि मे अनियत विहारी होकर विचरे।

१० नैषेधिकी परीषह–विना कारण भ्रमण न करना अपितु अपने आसन पर ही स्थित रहना। इतना ही नहीं किन्तु गिरि, कंदरा, वृक्ष के मूल, श्मशान वा शून्यागार मे ठहरकर सिंह व्याघ्र सर्प व्यन्तरादि देवों के किये हुए कष्टों को सहन करे।

११ शय्या परीषह—प्रिय वा अप्रिय वसति के मिल जाने पर हर्ष शोक न करना अपितु उसी वसति में उत्पन्न हुए परीषह का सहन करना जैसेकि–वसति चाहिए थी शीतकाल की किन्तु मिल गई उष्ण काल के सुख देने वाली इसी प्रकार उष्णकाल के स्थान पर शीतकाल की वसति उपलब्ध होगई होवे तो रोष वा हर्ष कदापि न करे।

१२ आक्रोश परीषह—कोई अनभिज्ञ आत्मा साधु को देखकर क्रोध के आवेश मे आकर गाली आदि वकने लग जाए तो उस समय शांति भाव का अवलम्बन करे। उसके प्रति क्रोध न करे। नांही उसको बुरा भला कहे।

१३ वधपरीषह—यदि कोई साधु को यष्टि आदि से ताड़े तो भी उस पर क्रोध न करे किन्तु इस वात को अनुभव से विचार करे कि यह व्यक्ति मेरे शरीर का तो भले ही वध करदे परन्तु मेरे आत्मा का तो नाश करही नहीं सकता। इस प्रकार के विचारो से वध परीषह को सहन करे।

१४ याचना परीषह—तथाविध प्रयोजन के उत्पन्न हो जाने पर घर २ से भिक्षा मांगकर लाना और मांगते समय लज्जादि उत्पन्न न करना क्योंकि–श्रमण भिक्षा धार्मिक वृत्ति कही जाती है। अतएव भिक्षावृत्ति मे लज्जा करनी उचित नही है।

१५ अलाभ परीषह—मांगने पर यदि फिर भी कुछ नही मिला तो शोक न करना किन्तु इस वात का विचार करना कि–यदि आज नही मिला तो अच्छा हुआ। विना इच्छा ही आज तप कर्म होगया। अंतराय के क्षयोपशम हो जाने पर फिर आहार उपलब्ध हो जायगा। इस प्रकार के विचारो से अलाभ परीषह सहन करे किन्तु न मिलने पर शोक वा दीनमुख तथा दीनवचनादि का उच्चारण न करे।

१६ रोग परीषह—रोग के उत्पन्न हो जाने पर उस रोगकी वेदना को शांतिपूर्वक सहन करे। फिर इस वात का सदैव अनुभव करता रहे कि–यह सर्व मेरे किये हुए कर्मों के फल है। मै ने ही किये है और मै ने ही इनका फल

न करने चाहिएं क्योंकि–दर्शन (निश्चय) के ठीक होने पर ही सब क्रियाएँ सफल हो सकती हैं। यदि सम्यक्त्व में निश्चलता नहीं तो फिर व्रतों मे भी अवश्यमेव शिथिलता आजायगी। मुनि का २६ वां गुण यह है कि वह वेदना को शांति पूर्वक सहन करे।

२७ मारणांतिकाध्यासनता—मारणांतिक कष्ट के आजाने पर भी अपनी सुगृहीत वृत्ति से विचलित न होना चाहिए अर्थात् यदि मरण पर्यन्त उपसर्ग भी आजावे तो भी अपने नियमों को न छोड़े कारणकि–साधुजनो के सखा कष्ट ही होते हैं जिनके आजाने से शीघ्र कार्य की सिद्धि होजाती है। इस लिये मुनि मारणांतिक कष्ट को भी भली प्रकार सहन करे। शास्त्र में इस प्रकार मुनि के २७ गुण वर्णन किये गए है किन्तु प्रकरण ग्रंथो मे २७ गुण इस प्रकार भी लिखे हैं जैसेकि—१ अहिंसा २ सत्य ३ दत्त ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह व्रत ६ पृथ्वी ७ अप्काय ८ तेजोकाय ९ वायुकाय १० वनस्पतिकाय ११ त्रसकाय १२ श्रुतेन्द्रिय निग्रह १३ चक्षुरिन्द्रिय निग्रह १४ घ्राणेन्द्रिय निग्रह १५ जिह्वेन्द्रिय निग्रह १६ स्पर्शेन्द्रिय निग्रह १७ लोभ निग्रह १८ क्षमा १९ भाव विशुद्धि २० प्रतिलेखना विशुद्धि २१ संयम योग युक्ति २२ कुशल मन उदीरणा अकुशल मन निरोध २३ कुशल वचन उदीरणा और अकुशल वचन निरोध २४ कुशल काय उदीरणा और अकुशल काय निरोध २५ शीतादि की पीड़ा सहन करना २६ मारणांतिक उपसर्ग का सहन करना २७ इस प्रकार से भी २७ गुण प्रकरण ग्रंथों में लिखे गए हैं परन्तु यह सब गुण पूर्वोक्त गुणों के अन्तर्गत हैं।

उक्त गुणों से युक्त होकर मुनि नाना प्रकार के तपोकर्म से अपने अन्तः करण को शुद्ध करने के योग्य हो जाता है और नाना प्रकार की आत्मशक्तिये (लब्धिएं) उसमे प्रकट होजाती हैं। यथाः—मनोबल—मन का परम दृढ़ और अलौकिक साहस युक्त होना वाग्बल—प्रतिज्ञा निर्वाह करने की शक्ति का उत्पन्न होजाना कायबल—क्षुधादि के लग जाने पर शरीर की कांति का बने रहना "मनसाशापानुग्रहकरणसमर्थ" मनसे शाप और अनुग्रह करने में समर्थ 'वचसाशापानुग्रहकरणसमर्थ' वचन से शाप और अनुग्रह करने मे समर्थ—"कायेनशापानुग्रहकरणसमर्थ"—काय द्वारा शापानुग्रह करने मे समर्थ—खेलौषधिप्राप्त—मुख का मल (निष्ठीवन) सकल रोगो के उपशम करने मे समर्थ "जल्लौषधिप्राप्त"—शरीर का प्रस्वेद वा शरीर मल रोगो के उपशम करने में समर्थ—"विप्रौषधिप्राप्त"—मूत्रादि के बिंदु तथा वि—विष्टा प्र—प्रश्रवण (मूत्र) यह सब तप के माहात्म्य से औषधिरूप हो रहे हैं "आमर्षणौषधि" हस्तादि का स्पर्श भी औषधिरूप जिनका हो रहा है "सर्वौषधिप्राप्त"—शरीर के सर्व

सत् तथाविधलब्धिविशेषादत्रुटितं तच्चतन्महानसं च—भिक्षालब्धं भोजनमक्षीणमहानसं तदास्ति येषां ते तथा" अर्थात् अक्षीण महानसशक्ति जिस से एक सामान्य भोजन द्वारा सहस्रों पुरुषों की तृप्ति की जा सकती है और मूल के भोजन में त्रुटि नहीं होती ये तप के माहात्म्य से उत्पन्न होती है। इतनाही नहीं किन्तु साथही वैक्रिय की लब्धि भी उत्पन्न होजाती है जिसके द्वारा मनोकामनानुसार अनेक रूपों की रचना की जा सकती है। जैसा रूप बनाने की इच्छा हो वैसा ही रूप बनाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एवं मुनि विद्याचारण लब्धि भी उत्पन्न कर लेता है जिसके द्वारा आकाश में गमन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा जंघाचारण आकाशगामिनी इत्यादि शक्तियां जो मुनि में उत्पन्न होती हैं वे सब तपःकर्म का ही माहात्म्य है।

तात्पर्य इतना ही है कि-कर्म क्षय करने के लिए दो स्थान प्रतिपादन किये हैं स्वाध्याय और ध्यान। इन्हीं स्थानो से आत्मा निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है।

यद्यपि मुनि धर्म के क्रियाकाण्ड की सहस्रों गाथायें वा श्लोक पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादन किये हैं तथापि वे सब गद्य या पद्य काव्य उक्त मुनि के २७ गुणों के ही अन्तर्भूत होजाते हैं।

औपपातिक सूत्र में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के साथ रहनेवाले मुनि मण्डल का वर्णन करते हुए सोलहवें सूत्र में लिखा है। तथा च पाठः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जातिसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा ओअंसी तेअंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियइंदिया जिअणिद्दा जिअपरीसहा जीविआस मरण भयविप्पमुक्का वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा णिच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा वेयप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोमप्पहाणा चारुवण्णा लज्जातवस्सी जिइंदिया सोही अणियाणा अप्पुस्सुआ अवहिल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरयादंता इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति॥

वृत्ति—"साधुवर्णक गमान्तरमेव—तत्र "जाइ संपन्न" त्ति उत्तममातृकपक्षयुक्ता इत्यवसेयम्। अन्यथा मातृकपक्षसंपन्नत्वं पुरुषमात्रस्यापि स्यादिति

त्ति गुरुभिर्दमं ग्राहिताः विनयिता इत्यर्थः—इदमेव नैर्ग्रन्थप्रवचनं "पुरओ-काउं" त्ति पुरस्कृत्य—प्रमाणीकृत्य विहरंतीति, क्वचिदेवं च पठ्यते—"बहूणं आयरिया" अर्थदायकत्वात् "बहूणं उवज्झाया" सूत्रदायकत्वात्, बहूनां गृहस्थानां प्रव्रजितानां च दीप इव दीपो मोहतमःपटलपाटनपटुत्वात् द्वीप इव वा द्वीपः संसारसागरनिमग्नानामाश्वासभूतत्वात् "ताणं" त्ति त्राणमनर्थेभ्यो रक्षकत्वात् "साणं" त्ति शरणमर्थसम्पादकत्वात् "गइ" त्ति गम्यत इति गतिरभिगमनीया इत्यर्थः—पइट्ठत्ति प्रतिष्ठन्त्यस्यामिति प्रतिष्ठा आश्रय इत्यर्थः।

भावार्थ—यद्यपि उक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत भाषा में वृत्तिकार ने स्फुट कर दिया है तथापि देशी भाषा मे उक्त सूत्र का अर्थ सामान्यतया दिखलाया जाता है। औपपातिक सूत्र में श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामी और श्रीभगवान् के मुनिसंघ का विस्तृत रूप से वर्णन किया है जिस के उपोद्घात के १६ वें सूत्र का यहां पर उल्लेख है। इस सूत्र मे श्री भगवान् के साथ रहने वाले मुनियों के गुणों का वर्णन है जैसेकि—अवसर्पिणी काल के चतुर्थ दुषम-सुषम नामक काल में जब श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते थे तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के बहुत से शिष्य स्थविर भगवान्, माता पिता के पक्ष से निष्कलंक, बल, (उत्तमसंहननयुक्त) रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चरित्र सम्पन्न, पाप कर्म से लज्जा करने वाले, अल्पोपाधि के धारण से वा गौरव के परित्याग से लाघव सम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वचन सौभाग्य से युक्त, इतना ही नही किन्तु परम ख्यात, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय, निद्रा तथा परीषह जीतने वाले, जीवन आशा और मृत्यु भय से रहित, व्रत तथा व्रतप्रधान गुण, क्रियाकलाप, चरित्र, निग्रह, निश्चय, आर्जव, मार्दव, लाघव, क्षान्ति और मुक्ति प्रधान, प्रज्ञप्ति आदि विद्या के होने से विद्या प्रधान, हरिणगमेषि आदि देवों के आवाहन करने में समर्थ होने से मंत्र प्रधान, वेदों (आगमों) के ज्ञाता, तथा लौकिक शास्त्रों के जानने वाले, ब्रह्मचर्य (कुशलानुष्ठान) में प्रधान, नीति में प्रधान, अभिग्रह (नियम विशेष) करने में प्रधान, सम्यग् वाद करने में प्रधान, द्रव्य से शारीरिक शौच, भाव से निर्दोष संयम क्रिया करनेवालों में प्रधान, सत्कीर्ति वा गौर शरीर वाले, तथा सत्प्रज्ञावाले, लज्जालु, तपस्वी और जितेन्द्रिय, प्राणीमात्र के प्रेमी, तीन योगों को शुद्ध करने वाले, निदान-कर्म रहित, औत्सुक्य भाव से वर्जित, संयम वृत्ति से मनको बाहिर न करने वाले और अतुल मनोवृत्ति, श्रामण्य भाव अनुरक्त, विनयी, निर्ग्रन्थ, प्रवचन के पठन पाठन करने वाले अतएव निर्ग्रन्थ, प्रवचन को प्रमाणभूत करके विचरने वाले। (पुरस्कृत्य—प्रमाणीकृत्य विहरंति)।

अर्थ—वे स्थविर भगवान् जैनसिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे, तथा वे स्वमत और परमत के पूर्णवेत्ता थे,। उन्होंने पुनः पुनः अभ्यास करने से आत्मवाद का परम परिचय प्राप्त करालिया था जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने नाम को किसी दशा में भी विस्मृत नही करता और मत्तहस्ती आनन्दपूर्वक एक सुन्दर आराम (वाग वा उद्यान) में क्रीड़ा करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मवाद को अवगत करके वे स्थविर भगवान् आत्मवाद में रमण करते थे। उनके प्रश्नोत्तर में किसी को तर्क करने का साहस नहीं होता था, क्योंकि—प्रश्नोत्तर युक्तियुक्त होने से वादी को किसी प्रकार से भी उनमें आक्षेप करने के लिये छिद्र नही मिलता था। जिस प्रकार एक धनाढ्य का रत्नों का करंडिया (डब्बा) होता है जिसकी सहायता से वह व्यापारादि क्रियाएं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्न करंडियों को वे धारण करने वाले तथा कुत्रिकापण (हट्ट) के समान थे । जिस प्रकार देवाधिष्ठित हट्ट से सर्व प्रकार की वस्तु उपलब्ध हो सकती है ठीक उसी प्रकार उन स्थविर भगवन्तों से सर्व प्रकार के ज्ञानादि पदार्थों की प्राप्ति होती थी तथा सर्व प्रकार के प्रश्नो के उत्तर जिज्ञासु जनों को उपलब्ध होते थे। इसी कारण वे परवादी का मान के मर्दन करने वाले तथा अकाट्य युक्तियों से स्वसिद्धान्त को सिद्ध करने वाले थे । द्वादशांग वाणी तथा समस्त गुणपिटक के धरने वाले, अर्थात् जिस प्रकार गृहस्थ लोगों का सर्व वहुमूल्य पदार्थ पिटक में रहा करता है ठीक उसी प्रकार समस्त श्रुतज्ञान उनमें ठहरा हुआ है, अतः वे द्वादशाङ्ग आचार्य के पिटक समान हैं। इसी लिए लिखा है कि-यह द्वादशाङ्ग श्रुत के पिटक हैं। वे स्थविर भगवान् समस्त गुण पिटक,सर्व प्रकार के अक्षर सन्निपात के वेत्ता थे। क्योंकि-सर्व प्रकार का अक्षरज्ञान शब्दागम (व्याकरण) द्वारा ही हो सकता है इतना ही नहीं किन्तु-स्वभाषा वल से सर्व भाषाओ में वातचीत करने में शक्त थे । आर्य अनार्य देवभाषा इत्यादि समस्त भाषाओ के पूर्ण विद्वान् होने से वे जिन भगवान् तो नही किन्तु जिन भगवान्वत् यथार्थ पदार्थों का वर्णन करने वाले थे। ऐसी शक्ति होने पर भी संयम और तप द्वारा आत्मा की शुद्धि करते हुए वे स्थविर भगवान् श्री भगवान् के साथ विचरते थे।

इस सूत्र से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि यावत्काल पर्यन्त आत्मा ज्ञान संपन्न नहीं होता तावत्काल पर्यन्त कोई भी संयम क्रियाओं मे रमण नहीं कर सकता। क्योंकि–जव ज्ञान द्वारा पदार्थों का स्वरूप भली प्रकार जान लिया जाता है तभी हेय-(त्यागने योग्य) ज्ञेय-(जानने योग्य) वा उपादेय-(ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो जाने के पश्चात्

भी उसकी उपेक्षा करने की चेष्टा करनी चाहिए। कारण कि—सांसारिक कर्तव्यों मे भाग लेने से संयम मार्ग में शिथिलता आजाती है। इसलिए पापमय कृत्यो के करने मे उपेक्षा करनी ही योग्य है। बस इसे ही उपेक्षा संयम कहते हैं। १३ प्रमार्जना संयम—जिस स्थान पर बैठना हो वा शयन करना हो उस स्थान की यत्न पूर्वक प्रमार्जना करलेनी चाहिए। कारण कि—प्रमार्जना करने से ही जीवरक्षा भले प्रकार की जा सकेगी। १४ परिष्ठापना संयम—जो वस्तु परिष्ठापन करने (गिराने) योग्य हो जैसे-मल मूत्रादि तो उन पदार्थों को शुद्ध और निर्दोष भूमि में परिष्ठापन (गिरना) करना चाहिए जिससे फिर असंयम न होजावे। १५ मनःसंयम-मन में किसी जीव के प्रतिकूल वा हानि करने वाले भाव न उत्पन्न करने चाहिएं अपितु मनमें सदैव, धार्मिक भाव ही उत्पन्न करने चाहिएं। इसी का नाम मनःसंयम है॥ १६ वाक्संयम—वचनयोग को वश करना, तथा कुशल वचन मुख से उच्चारण करना। जिनके बोलने से किसी जीव को पीड़ा उत्पन्न होती हो उस प्रकार के वचनों का निरोध करना, इसी का नाम वाक्-संयम है। १७ काय-संयम-गमनागमनादि क्रियाएं फिर विना यत्न न करना, इस का नाम काय-संयम है। जब मुनि ध्यानावस्था मे लवलीन रहेगा तब मन, वचन और काय-संयम भली प्रकार से साधन किया जा सकेगा। जिस के अन्तिम फलरूप निर्वाणपद की प्राप्ति उस संयमी आत्मा को अवश्यमेव हो जायगी क्योंकि—जब उक्त प्रकार से संयम आराधन किया जायगा तब मुनि अपने धर्म मे अवश्य प्रविष्ट हो जायगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—जब मुनि अपने धर्म में प्रविष्ट होता है, तब मुनि का निज धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि—शास्त्रकारो ने मुनि का धर्म दश प्रकार से प्रतिपादन किया है। तथा च पाठः—

दसविहे समण धम्मे प. तं०—खंती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १० ॥

समवायांगसूत्र समवायस्थान १० ॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति के कहे हुए दुर्वचनों का सहन करना, फिर उन पर मन से भी क्रोध के भाव उत्पन्न न करने, और इस बात पर सदैव विचार करते रहना कि—जिस प्रकार शब्दो का कर्णेन्द्रिय मे प्रविष्ट होने का स्वभाव है उसी प्रकार इन शब्दो के प्रहार को सहन करने की शक्ति मुझ मे होनी चाहिए इत्यादि भावनाओं द्वारा क्षमा धारण करना ॥ १ ॥ फिर बाह्याभ्यन्तर से परिग्रह का त्याग करना अर्थात् लोभ का परित्याग करना ॥ २ ॥ मन, वचन और काय की कुटिलता का परित्याग करके ऋजु (सरल) भाव धारण

अथ तृतीया कलिका ।

इसके पूर्व देवगुरु का स्वरूप किञ्चिन्मात्र प्रतिपादन किया गया है किन्तु अब धर्म के विषय में भी किञ्चिन्मात्र कहना उचित है। क्योंकि-देव का प्रतिपादन कियाहुआ ही तात्विक रूप धर्म होता है, उसी की सम्यक्तया आराधना करने से आत्मा गुरु पद को प्राप्त कर निर्वाण पद पाता है। अतएव प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि—वह आत्म-कल्याण करने के लिए देव-गुरु और धर्म की सम्यग् भावों से परीक्षा करे। क्योंकि-जो सांसारिक पदार्थ ग्राह्य होता है, सर्व प्रकार से पूर्व में उसी की परीक्षा की जाती है। परन्तु जब आस्तिक बन कर परलोक की सम्यक्तया आराधना करनी है तो उक्त पदार्थों की भी सम्यक्तया परीक्षा अवश्यमेव करनी चाहिए। इस समय धर्म के नाम से यावन्मात्र मत सुप्रसिद्ध होरहे हैं, प्रायः वे सब सम्यग् ज्ञान से रहित होकर केवल पारस्परिक विवाद, जय, पराजय और पक्षपात में निमग्न हो रहे हैं। जिनके कारण बहुतसी भद्र आत्माएँ धर्म से पराङ्मुख होगई हैं, और शंका सागर में गोते खाते हैं। इसका मूल कारण केवल इतना ही है कि-लोगों ने केवल धर्म शब्द का नाम ही सुना है, लेकिन उसके भेद तथा स्थानों को नहीं समझा है। इसीलिये परस्पर विवाद और जय पराजय का अखाड़ा खुला रहता है, जिसमें प्रतिदिन मल्लयुद्ध के भावों को लेकर प्रत्येक व्यक्ति उक्त अखाड़े में उतरती है। उनकी ऐसी अयोग्य क्रीड़ा को देख कर दर्शक जन उपहास की तालियां बजाते हैं। यही कारण है कि-धर्म और देशोन्नति अधोगति में गमन कर रहे हैं। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि-वाचालता की ही अत्यन्त उन्नति इस युग में हो रही है। परन्तु जैन-शास्त्रकारो ने धर्म शब्द की व्याख्या इस नीति से की है कि-उसमें किसी को भी विवाद करने का तुक्श उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि जब धर्म शब्द के मर्म को जान लिया जाता है तो स्वयं पारस्परिक विवाद तथा वैमनस्य भी अन्तःकरण से उठ जाता है। प्रायः देखा जाता है कि-बहुत से अनभिज्ञ वा हठग्राही आत्माएँ केवल धृञ्-धारणे धातु के अर्थ को लेकर मान बैठे हैं कि-जिसने जिस वस्तु को धारण किया है वही उसका धर्म है, ऐसी बुद्धि रखने वाले सज्जनों के मत से कोई भी संसार में अधर्म नही है, क्योकि-जो कुछ उन्हो ने धारण किया है, उन के विचारानुकूल तो वह धर्म ही है। अब बतलाना चाहिए कि-अधर्म क्या चीज है? और धर्म क्या चीज है? उनके मतानुकूल तो एक व्याध (शिकारी) जो जीवों को मारता फिरता है, उसकी पाशविक क्रिया भी एक धर्म है, एवं चोर चोरी कर रहा है, वह भी धर्म है, अन्यायी अन्याय कर रहा है, वह भी धर्म है, व्यभिचारी व्यभिचार कर रहा है, वह

कुलथेरा ५ गणथेरा ६ संघथेरा ७ जातिथेरा ८ सुयथेरा ९ परिताय-थरो १० ।

ठाणागसूत्र स्थान १० (सू०७६१)

वृत्ति--दसेत्यादि, स्थापयन्ति--दुर्व्यवस्थितं जनं सन्मार्गे स्थिरीकुर्वन्तीति स्थविराः तत्र ये ग्रामा नगरास्तेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्र स्थविरा इति ॥ १-२-३ ॥ प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धर्म्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः ॥ ४ ॥ ये कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च लौकिकस्य लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणः निग्राहकास्ते तथोच्यते ॥५-६-७॥ जातिस्थविराः षष्टिवर्षप्रमाणायुष्मन्तः ॥ ८ ॥ श्रुतस्थविराः समवायाद्यङ्गधारिणः ॥९॥ पर्याय-स्थविराः-विंशतिवर्षप्रमाणप्रवज्यापर्यायवन्त इति ॥ १० ॥

भावार्थ-इन दोनों सूत्रों का परस्पर इस प्रकार सम्बन्ध है, जिस प्रकार रूप और रस का परस्पर सम्बन्ध होता है क्योंकि-जिस स्थान पर रूप है उसी स्थान पर रस भी साथ ही प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार जहां पर रस होता है रूप भी वहां पर अवश्य देखा जाता है। परन्तु इस तरह कभी भी देखने में नहीं आता कि-पदार्थों में रूप तो भले प्रकार से निवास करे और रस न करे, और रस हो तो रूप न हो। जिस प्रकार इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार वहुतसे धर्म और स्थविरों का भी परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। क्योंकि-धर्म से स्थविरों की उत्पत्ति है और स्थविर ही धर्म के नियमों को निश्चित करते है, अतः दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध माना। वहुतसे धर्म इसलिये कथन किए गए हैं कि-- अत्थिकाय ("अस्तिकाय धर्म") यह स्वाभाविक धर्म पदार्थों का स्वभाव) अनादि अनंत माना गया है। किन्तु किसी भी स्थविर ने पदार्थों का धर्म नियत नहीं किया है। इसी प्रकार पाखंडधर्म" के स्थविर भी वास्तव में नही माने जाते है। स्थविर शब्द की व्युत्पत्ति यह नहीं दर्शाती है कि-स्थविर ही पाखंड धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं, वे तो पाखंडधर्म के विध्वंसक माने जाते हैं। लिखा भी है-

न तेन थेरो सो होति, येनस्स फलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स, मोघाजिण्णोति वुच्चति ॥५॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संजमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो, सो थेरो ति पवुच्चति ॥ ६ ॥

धम्मपद धम्मट्ठवग्गो १९ वा गा-५-६ ॥

अर्थ—जिस के मस्तक के केश श्वेत होगए है, वह स्थविर नहीं होता।

रूपी ग्राम कदापि सुरक्षित नही रह सकता। प्रत्युत व्याधियुक्त होकर शीघ्र ही परलोक की यात्रा के लिये कटिवद्ध हो जाता है। सारांश यह है कि—दोनों प्रकार के ग्रामो की व्यवस्था को ठीक करना उसी का नाम ग्रामधर्म है। ग्राम जिस प्रकार उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होजाए और ग्रामवासी जन आनंद पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करसकें इस प्रकार के नियम जो स्थविरो ने बांधे हों उन्हीं का नाम ग्रामधर्म है।

२ नगरधर्म—प्रति नगर का भिन्न २ प्रकार से आचार व्यवहार होता है, परन्तु जिन नियमों से नगर वासी जन शांति और आनन्द पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके, ऐसे नियम जो स्थविरो द्वारा बांधे हो, उन्ही का नाम नगरधर्म है। क्योंकि—स्थविरों को इस बात का भली भांति ज्ञान होता है कि—अब नगर इस व्यवस्था पर आरहा है, इस लिये अब देश या कालानुसार इन नियमों की योजना की आवश्यकता है। जैसे कि—जब नगर व्यवहार या व्यापार की उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है और जिसके कारण व्यापारी वर्ग धर्म के लाभ के लिये सांसारिक उन्नति के शिखर पर पहुंचते हैं, उस समय लोग विवाह आदि शुभ क्रियाओ मे मनमाने धन का व्यय करने लग जाते हैं। उन्हें उस समय किसी प्रकार की भी पीड़ा नही होती, परन्तु जब व्यापार की क्रियाएं निर्बल पड़ जाएं और फिर भी उसी प्रकार विवाहादि क्रियाओ में धन व्यय किया जाए तो उन लोगो को अवश्यमेव कष्टों का मुंह देखना पड़े। परन्तु उस समय तो नगर के स्थविर उन नियमो को वांध लेते हैं जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार होते हैं, जिनके द्वारा नगरवासी जन धन के न्यून होजाने पर भी उक्त क्रियाओ के करते समय दु:खों का अनुभव नहीं करते। इसी का नाम नगर धर्म है। नगरधर्म उसको भी कहते हैं जिसमे कर न लगा हो। इस शब्द से निश्चित होता है कि-पूर्व काल मे जब राजे लोग नगर की स्थापना करते होंगे तब उस की वृद्धि के लिए कुछ समय तक कर नहीं लगाते होंगे। यह नियम आजकल भी कतिपय मंडियों में देखाजाता है। सारांश यह निकला कि प्रति नगर का खान, पान, वेष, भाषा, कला, कौशल इत्यादि प्रायः भिन्न २ होती है। अतः जो नगर स्थविरो द्वारा सुरक्षित होरहा हो उसी को नगरधर्म कहते है।

३ राष्ट्रधर्म-राष्ट्र शब्द देश का वाची है। जिस प्रकार देश की विगड़ी हुई व्यवस्था ठीक होसके उसी का नाम देशधर्म है। यद्यपि देश शब्द के साथ ही राज्य धर्म की सत्ता भी सिद्ध होती है, तथापि राज्य धर्म को सूत्र-कर्ता ने पृथक् नही माना है, क्योंकि—राजा का सम्बन्ध देश के ही साथ है राजा ही देश का संरक्षक होता है, इसलिये राजा वा राज्यधिकारी लोगो को सूत्र-कर्ता

को राष्ट्रीय स्थविर भली प्रकार विचारा करते हैं।

४ पाखंडधर्म-जिन कार्यों में वाहरी आडम्बर तो विशेष हो, परन्तु धर्म का अंश सर्वथा न पायाजाय उसीको पाखंडधर्म कहते हैं। जैसे कि-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र का तो लेशमात्र भी न हो, परन्तु कायकष्ट तथा संन्यासी होकर हस्ती की सवारी, डेरा, तम्बू, वाग, वगीचे, आखाड़े आदि की संयोजना करनी तथा सहस्रो वा लाखों रूपयों पर अधिकार रख कर परिव्राजकाचार्य वा महंत तथा हंस परमहंस वन वैठना, ये सव उक्त क्रियाएँ मुनि धर्म से रहित करने वाली होती हैं। क्योंकि-ये ही उपाधियां तो गृहस्थाश्रम मे थीं, फिर जव संन्यास धारण कर लिया तव भी अगर धन, भूमि और स्त्रियों की उपाधि पीछे लगी रही, तो चतुर्थाश्रम धारण करने की आवश्यकता ही क्या थी? शोक से लिखना पड़ता है! यह आर्यभूमि पूर्व काल मे ऋषि महर्षियो से सुशोभित होरही थी, परन्तु आजकल प्रायः इस भूमि में उक्त पदों की केवल संज्ञाएँ मात्र रहगई हैं, और तो क्या कोई भी कुकृत्य ऐसा नहीं जो वे नामधारी मुनि (साधु) नही करते, अपितु सभी कुकृत्य वे कर वैठते हैं। न्यायालयों मे उनके झगड़े विद्यमान रहते हैं, राजकीय दण्ड वे भोगते हैं, भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने मे उनका कोई भी विवेक नही, यावन्मात्र मादक द्रव्य हैं, प्रायः उनकी वे लोग आनन्द पूर्वक सेवन करते हैं। फिर भी वे आस्तिकों के शिरोमणि वनने का साहस रखते हैं, धर्मात्मा वनने का लोगों को विज्ञापन पत्र देते रहते हैं अर्थात्-एवं विध कुकृत्य करते हुए भी वे धर्मात्मा कहाते हैं। अव वतलाइये यह पाखंड धर्म नहीं है तो और क्या है? जिस प्रकार संन्यासी लोग क्रिया से पतित होरहे हैं, उसी प्रकार उदासी वैरागी निर्मले औघड़े पोप आदि लोग भी क्रिया का प्रायः नाम ही भूल गये हैं। देशो मे धर्मोन्नति के स्थान पर वे लोग धर्म को अधोगामी वनारहे हैं। क्योंकि-उक्त नाम धारियो की संगति से प्रायः धनी लोग व्यभिचार करना सीख जाते हैं, जिन्हे कोई व्यसन न लगा हो वे लोग भी उक्त महात्मायो की संगति से व्यसनसेवी वन जाते हैं। जैसे कि अगर कोई भद्र पुरुष इन के डेरे आदि स्थानो मे जाता है तो उस भक्त को भांग चरस आदि का स्वभाव तो स्वाभाविकता से पड़ ही जाता है। क्योंकि-प्रायः शिष्य सदा गुरु का अनुकरण करने वाला ही होता है। जव वे अपने गुरुओं की सत्कृपा से व्यसनी वन जाते हैं तव उनको धनके संग्रह करने की अत्यन्त उत्कट इच्छा होजाती है। परन्तु वे कोई काम करना नही चाहते जिससे उनको फिर जूए और चौर्य्य कर्म का सहारा लेना पड़ता है। जव वे उक्त क्रियाओ में लगगए तो फिर कौन सा दुष्कृत्य है जो उनको सेवन न करना पड़े। अतः ये सव पाखंड धर्म है तथा आजकल वहुत सी आत्माएं

यदि एक गुरु के शिष्यों का परिवार विस्तृत होगया हो, तो उसे कुल कहते हैं फिर उनका जो परस्पर सम्बन्ध है, वा गच्छ समूहात्मक है, उसका धर्म अर्थात् समाचार जो है उसी का नाम कुलधर्म है। उस धर्म को ठीक पालन करने के लिए जो नियमों को निर्माण करना है यही कुलस्थविरो का कर्तव्य है। कुलस्थविर सदैव काल इसी वात के विचार में रहें, जिस से कुलधर्म भली प्रकार से चलता रहे। जिस प्रकार लौकिक कुलधर्म में यदि कोई त्रुटि आगई हो तो उसे कुलस्थविर दूर करते हैं, इसी प्रकार यदि धार्मिक कुल-धर्म में कोई व्यक्ति स्वच्छन्दवृत्ति होगया है, तो धार्मिक कुलस्थविर उस त्रुटि को दूर करने की चेष्टा करें साथ ही इस प्रकार की नियमावली निर्माण करें, जिस से कुलधर्म अच्छी प्रकार चलता रहे। जैसेकि—कुल-समाचार, परस्पर वन्दना, व्यवहारसूत्र, अर्थप्रदान, उपधान, तप, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग इत्यादि क्रियाएँ जो कुल मे चली आती हों वे उसी प्रकार चलती रहें, इस प्रकार के धर्म के प्रवर्त्तक कुल स्थविर ही होते हैं।

६ गणधर्म—अनेक कुलो का जो समूह है, उनका जो परस्पर सम्बन्ध है उस सम्बन्ध की व्यवस्था ठीक प्रकार से हो रही है तो उस को गण-धर्म कहते हैं। यद्यपि गण शब्द समूह का वाची है तथापि रूढि से यह शब्द अनेक स्थानों में व्यवहृत हो रहा है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठ से निश्चित होता है कि—पहिले समय में गणधर्म का अति प्रचार था। क्योंकि-वहां जिस स्थान पर जो राजाओं की गणना आती है उस स्थान पर साथ ही यह पद पढ़ा गया है कि—"गणराज" जो गण की सम्मति से राजा हुआ हो, उसे गणराज कहते हैं अर्थात् जिस प्रकार आज कल अमेरीकादि देशों में "गणराज" पद की स्थापना की जाती है उसी प्रकार पूर्व काल मे दाक्षिणात्य भारत मे भी वहुत से व्यक्ति गणराज पदारूढ़ होते थे। जैसेकि—निरया-वली सूत्र में लिखा है कि—नवमल्ली जाति के राजे और नवलच्छी जाति के राजे काशी और कोशल देश पर गणराज करते थे। प्रजा की सम्मति-पूर्वक उन व्यक्तियों को राजसिंहासनारूढ किया जाता था, फिर वे नियत समय तक प्रजा शासन करते थे, और उनकी आज्ञा प्रजा सम्यक्तया पालन करती थी। परन्तु वह आज्ञा नियत समय तक ही रहती थी। गणराज प्रजा की सम्मति से इस प्रकार होते थे, जिस प्रकार आजकल मेम्वर चुने जाते हैं। तथा जव हम इस से छोटे पक्ष मे आते है, तव गणराज एक छोटे से देश में पाते है, जैसेकि—जो छोटे २ कुलो का एक समूह होता है उसी को गण कहते है, फिर सव की सम्मति से जो उस गण का नेता चुना जाए उसी का नाम गणराज पड़ता है, जिसे आज कल लोग प्रधान (प्रेजीडेण्ट) कहते

हैं। सारा गण उस प्रधान की आज्ञा पालन करता रहता है। श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जब आनन्द गृहस्थ को श्रावक के १२ नियम धारण करवा दिये, तब आनन्द श्रावक ने श्री भगवान् से प्रार्थना की कि—इन गृहीत नियमों को मैं छः कारणों के विना यत्न पूर्वक पालन करूंगा। उन्हीं छः कारणों में एक कारण "गणाभिओगेणं" गणाभियोग लिखा है अर्थात् किसी कारण से मुझे यदि 'गण' कहे वा 'गण पति' कहे तो मुझे वह कार्य करणीय होगा परन्तु मेरा गृहीत नियम खंडित नहीं समझा जायगा। कारण कि—उस कृत्य-को 'गण' करवा रहा है वा गणराज की आज्ञा से मैं वह कार्य कर रहा हूं इत्यादि। इस कथन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है—कि पूर्व काल में गण वा गणराज का किस प्रकार चारु प्रबन्ध चलता था? धार्मिक कृत्यों के धारण करते समय भी गणधर्म का अवश्य ध्यान रक्खा जाता था। साथ ही इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि—हमारे गण मे किसी कारण से फूट न पड़ जाय जिस के कारण गणधर्म का फिर सन्धान करना कठिन होजाए। कारणकि—गणधर्म में विघ्न उपस्थित करना तो सुगम है परन्तु—जब गण में फूट पड़ जाती है तब गण का सुधार होना अति कठिन हो जाता है, अत गण में परस्पर वैमनस्यभाव उत्पन्न नहीं करने चाहिएं। जिस प्रकार नियमों द्वारा गण सुरक्षित रह सके, प्रत्येक व्यक्ति को उसी विचार में रहना चाहिए। गण शब्द का ही अपभ्रंश आजकल बरादरी शब्द प्रचलित होरहा है, गणस्थविर के नाम पर चौधरी शब्द व्यवहृत होरहा है। अतएव वही बरादरी ठीक काम कर सकती है जिसके चौधरी दक्ष और बरादरी को उन्नतिशाली बनाने में दत्तचित्त होकर काम करें। क्योंकि—जब गण (बरादरी) गण स्थविर (चौधरी) के वश में होगी वा माला के मणियों के समान एक सूत्र में ओतप्रोत होगी तब जो गण में आपत्तियां होंगी स्वयमेव शान्त होजायेगी। जिस प्रकार माला की मणियें (मणके) एक सूत्र में ओतप्रोत होकर स्मरण में सहायक होते हुए देवताओं का आह्वान कर लेती है वा परमात्म-पद की प्राप्ति करा देती है, उसी प्रकार गण का ठीक प्रकार से संगठन अनेक प्रकार के कष्टों से विमुक्त करके सुख और शांति की प्राप्ति कराने लग जाता है। व्यवहार पक्ष में संगठन को देखकर प्रतिकूल व्यक्तियां अपने आप वैरभाव को छोड़ कर उन से मेल करने लग जाती हैं। तथा जो काम राजकीय सम्बन्धी हों उन्हे गणस्थविर सुख पूर्वक करा सकते है। धार्मिक कार्य भी गण स्थविर बड़ी शांति पूर्वक कराते हुए नगर वा देश मे धर्म-उद्योत कर सकते है। अतएव सिद्ध हुआ कि—कुल धर्म ठीक होजाने पर गण धर्म भी भलीप्रकार चलसकता है, गणधर्म ठीक होजाने से गण में शांति और परस्पर प्रेम का सर्वप्रकार से

हीं अवयव सुरक्षित न रह सकें, परन्तु आंखो के सुरक्षित रहने पर उन अवयवो का भली प्रकार प्रतिकार किया जा सकता है । ठीक इसी प्रकार संघधर्म के स्थविरों के साथ यदि कुलधर्म के स्थविर और गणधर्म के स्थविर भली प्रकार सम्मिलित हो जायं तथा परस्पर तीनों स्थविरों की सम्मति मिल जाय वा परस्पर नियमो में उनका वैमनस्यभाव उत्पन्न न हो या कुल धर्म के स्थविर और गण धर्म के स्थविर भली प्रकार अपना पक्ष त्यागकर संघ धर्म के स्थविरों की आज्ञा पालन करें, तो दिनप्रतिदिन संघधर्म अभ्युदय को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि-"संघधर्म" शब्द की वृत्ति करने वाले लिखते है "संघधर्मा-गोष्ठीसमाचारा" अर्थात् संघ धर्म उसका नाम है जिस की उन्नति के उपायों का अन्वेषण ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर, प्रशास्तस्थविर कुलस्थविर और गणस्थविर एकत्र होकर करें तथा उक्त धर्मों को सुरक्षित रखने के लिये देशकालानुसार नियमों की संयोजना करें। जिस प्रकार संघधर्म के मुख्य अवयव कुलस्थविर और गणस्थविर पूर्व लिखे जा चुके हैं, ठीक उसी प्रकार संघधर्म के मुख्य अवयवरूप राष्ट्रस्थविर तथा अन्य स्थविर भी है। कारणकि-यावन्मात्र धर्म ऊपर कथन किये जा चुके है, और यावन्मात्र उनके स्थविर प्रतिपादन किये गये हैं, उन सबका एक नियत समय पर एकत्र होना फिर परस्पर देशकालानुसार उक्त धर्मों के नियमों पर विचार करना, इतना ही नहीं अपितु सर्वधर्मों की दशाओं का अन्तरंग दृष्टि से अवलोकन करना, उनकी वृद्धि और हानि की ओर ध्यान देना, सब की सम्मति के अनुसार वा बहुसम्मति पूर्वक प्रस्ताव पास करना, इत्यादि को भी संघधर्म कहते हैं। जिस प्रकार जैनमत में समयानुसार कुलकर जगत् की वा कर्मभूमियोंकी व्यवस्था ठीक बांधते आए हैं, उसी प्रकार परमत में स्मृतिकार भी देशकालानुसार नियम बांधते रहे हैं। परन्तु उन स्मृतिकारों ने विशेष दूरदर्शिता से काम नही लिया। क्योकि-प्रायः उनकी स्मृतियो मे भक्ष्याभक्ष्य पर विशेष विचार नही किया गया। कइयो ने तो अतिथिसत्कार में पशुवध भी लिख डाला है, तथा अन्य कई प्रकार से

---

१ वशिष्टस्मृति के चतुर्थाध्याय मे लिखा है कि—पितृदेवतातिथिपूजाया पशु हिंस्यात् । मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव च पशु हिंस्यान्नान्यत्येत्यब्रवीन्मनु ॥ नाकृत्वा प्राणिना हिंसा मासमुत्पद्यते क्वचित् ॥ न च प्राणिवध· स्वर्ग्यस्तस्माद्यागे वधोऽवध । अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा अभ्यागताय वा महोक्ष वा महाज वा पचेदेवमस्यातिथ्य कुर्वतीति ॥

पितर, देवता और अतिथि इनकी पूजा में पशु की हिंसा करे। कारण कि-मनु का यह वचन है कि—मधुपर्क मे यज्ञ में पितर और देवताओ के निमित्त जो कर्म है, उन में पशु की हिंसा करे,

से उपमा देकर अलंकृत किया गया है, जैसे कि–

तव संजम मयलंछण अकिरियराहुमुहदुद्धरिसनिच्चं । जय संघचन्द ! निम्मल सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा ॥

वृत्ति–तपश्च संयमश्च तपःसंयमं समाहारो द्वन्द्वः तपःसंयममेव मृगलाञ्छनं–मृगरूपं चिह्नं यस्य तस्यामंत्रणं, हे तपःसंयममृगलाञ्छन ! तथा न विद्यंतेऽनभ्युपगमात् परलोकविषया क्रिया येषां ते अक्रिया–नास्तिकाः त एव जिनप्रवचनशशाङ्कग्रसनपरायणत्वाद्राहुः तस्य मुखमिवाक्रियराहुमुखं तेन दुष्प्रधृष्यः–अनभिभवनीयः तस्यामंत्रणं हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य ! संघश्चन्द्र इव सङ्घचन्द्रः तस्यामंत्रणं हे सङ्घचन्द्र ! तथा निर्मलं–मिथ्यात्वमलरहितं यत्सम्यक्त्वं तदेव विशुद्धा ज्योत्स्ना यस्य स तथा "शेषाद्वे" ति कः प्रत्ययः, तस्या मंत्रणं हे निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक ! दीर्घत्वं प्रागिवप्राकृतलक्षणादवसेयम्, "निच्चं" "नित्यं" सर्वकालं "जय" सकलपरदर्शनतारकेभ्योऽतिशयवान् भव, यद्यपि भगवान् सङ्घचन्द्रः सदैव जयन् वर्त्तते तथाऽपीत्थं स्तोतुरभिधानं कुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिकारणमित्यदुष्टम् ॥ पुनरपि सङ्घस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

भावार्थ–हे तपःसंयम मृगलाञ्छन वाले ! हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य ! हे संघचन्द्र ! हे निर्मल विशुद्ध ज्योत्स्ना के धारण करने वाले ! तेरी सर्वदा जय हो। इस गाथा का सारांश इतना ही है कि–स्तुतिकार ने श्रीसंघ को चन्द्र की उपमा से संबोधित किया है। जैसेकि-हे संघचन्द्र ! जिस प्रकार चन्द्र को मृग का लाञ्छन होता है, ठीक उसी प्रकार श्रीसंघ रूपी चन्द्र को तपःसंयम रूपी मृग लाञ्छन है। इसी लिये इस का यह आमंत्रण किया गया है कि–हे तपः संयम रूप मृग के लाञ्छन वाले ! फिर जिन की परलोक विषय क्रिया नहीं रही ऐसे जो नास्तिक लोग है, वेही जिनप्रवचन रूप चन्द्र के ग्रसनपरायण होने से राहु के समान है उन से जो पराभव करने योग्य नही है । अतः श्री संघ के लिये यह आमंत्रण किया गया है कि–हे अक्रिय राहु मुखदुष्प्रधृष्य ! तथा जिस प्रकार चन्द्र निर्मल होता है ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप मल से रहित जो सम्यक्त्व है, वही उस संघ रूप चन्द्र की विशुद्ध ज्योत्स्ना (चांदनी) है। इसीलिये यह आमंत्रण किया गया है कि–हे निर्मल सम्यक्त्व विशुद्ध ज्योत्स्ना वाले संघ चन्द्र ! तू सदैव काल जय करने वाला हो। यद्यपि भगवान् संघ चन्द्र सदैव जय कर्ता होकर ही वर्त रहा है, तथापि यहां पर स्तुति करने वाले के मन वचन और कार्य कुशल प्रवृत्ति रूप होनेसे इस कथन से कोई आपत्ति रूप दोष नही है ॥

करता रहता है, परन्तु इस बात को ठीक स्मरण रखना चाहिए कि-जब तक ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, कुलस्थविर, वा गणस्थविर राष्ट्रीय स्थविरों के साथ सहमत न होंगे, तब तक संघस्थविरों के उत्तीर्ण किए हुए प्रस्ताव सर्वत्र कार्य-साधक नहीं हो सकते। इस कथन से यह तो स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि संघधर्म और संघस्थविरो की कितनी आवश्यकता है? इस लिये संघधर्म की संयोजना भली प्रकार से होनी चाहिए। इसीलिये सूत्र-कर्ता ने दश स्थविरों की गणना मे एक तरह के "पसत्थारथेरा" "प्रशातृ-स्थविरा" लिखे हैं, उनका मुख्य कर्तव्य है कि-वे उक्त धर्मों का अपने मनोहर उपदेशों द्वारा सर्वत्र प्रचार करते रहें। जैसे कि-"प्रशासति-शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशातृस्थविरा" क्यों कि-प्रशातृ-स्थविर प्राणीमात्र के शुभचिंतक होते है। इसीलिये वे अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्राणीमात्र को धर्म पक्ष में स्थिरीभूत करते रहते है। कारण कि-नियम पूर्वक की हुई क्रियाएँ सर्वत्र कार्य-साधक हो जाती हैं, किन्तु नियम रहित क्रियाएँ विपत्ति के लाने वाली बन जाती हैं, जिस प्रकार धूमशकटी (रेलगाड़ी) अपने मार्ग पर ठीक चलती हुई अभीष्ट स्थान पर निर्विघ्नता पूर्वक पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार स्थविरो के निर्माण किये हुए नियमो के पालन से आत्मा व्यभिचारादि दोषों से बचकर धर्म मार्ग में प्रविष्ट होजाता है, जिस का परिणाम उस आत्मा को उभय लोक में सुखरूप उपलब्ध होता है। क्योंकि-यह बात भली प्रकार से मानी गई है कि-आहार की शुद्धि होने से व्य-वहार-शुद्धि होसकती है। सो यावत्काल पर्यन्त आहार की शुद्धि नहीं कीजाती तावत्कालपर्यन्त व्यावहारिक अन्य क्रियाएं भी शुद्धि को प्राप्त नहीं होसकतीं। अतएव इन सात स्थविरों का संक्षेप मात्र से स्वरूप कथन किया गया है, साथ ही सात ही प्रकार के धर्म भी बतला दिये गए हैं, सो स्थविरों को योग्य है कि-वे अपने ग्रहण किये हुए पवित्र नियमों का पालन करते हुए प्राणी मात्र के हि-तैषी बनकर जगत् के हितैषी बने।

इतिश्री—जैनतत्त्वकलिकाविकासे स्वरूपवर्णनात्मिका तृतीया कलिका समाप्ता।

अथ चतुर्थी कलिका

सुज्ञ पुरुषो! पिछले प्रकरणो में सात धर्मों का संक्षेपता से वर्णन किया गया है, जिसमें लौकिक वा लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्म और स्थविरों की संक्षेप रूप से व्याख्या की गई है क्योंकि-यदि उन धर्मों की विस्तार पूर्वक व्याख्या लिखी जाती तो कतिपय महत् पुस्तको की संयोजना करनी

तो विद्वान् और अनुभवी पुरुषों के पास पहुंच कर सूत्र के अर्थों का श्रवण करे। क्योंकि जिन आत्माओं ने अक्षरज्ञान संपादन नहीं किया है, वे श्रुत के अर्थ-श्रवण से अपना वा पर का कल्याण कर सकते हैं। तथा च पाठः--

दुविहे धम्मे पं०तं--सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव, सुयधम्मे दुविहे पं०तं सुत्तसुयम्धमे चेव अत्थसुयधम्मे चेव ॥

ठाणागसूत्र स्थान २ उद्देश्य १ ॥

वृत्ति-दुर्गतो प्रपतंतो जीवान् रुणद्धि सुगतौ च तान् धारयतीति धर्म्मः, श्रुतं द्वादशांगं तदेव धर्म्म श्रुतधर्म्मः। चर्यते आसेव्यते यत् तेन वा चर्यते-गम्यते मोक्ष इति चारित्रं--मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्म्मश्चारित्रधर्म्म इति। 'सुयधम्मे' इत्यादि सूत्र्यन्ते सूच्यन्तेवाऽर्थो अनेनेति सूत्रम् सुस्थितत्वेन व्यापित्वेन च सुष्टूक्तत्वाद्वा सूक्तं, सुप्तमिव वा सुप्तम्, अव्याख्यानेनाप्रवुद्धावस्थ-त्वादिति, भाष्यवचन त्वेवं 'सिञ्चति खरइ जमत्थं तम्हासुत्तं निरुत्तविहिणा वा। सूएइ सवति सुव्वइ सिव्वइ सरए वजेणऽत्थं ॥ १ ॥ अविवरियं सुत्तंविव सुट्ठिय वा वित्तओ सुवुत्तं' त्ति ॥ अर्यतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा याच्यते वुभुत्सुभिरित्यर्थो-व्याख्यानमिति, आह च-जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हत्ति' ॥

भावार्थ-श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने धर्म दो प्रकार से प्रतिपादन किया है, जैसेकि-श्रुतधर्म और चारित्रधर्म फिर श्रुतधर्म भी दो प्रकार से वर्णन किया है, जैसेकि सूत्रश्रुतधर्म और अर्थश्रुतधर्म। दुर्गति मे पड़ते हुए प्राणी को जो उठाकर सुगति की ओर खींचता है, उसी का नाम धर्म है और द्वादशाङ्ग रूप श्रुत का जो पठन पाठन करना वा कराना है उसे श्रुतधर्म कहते हैं तथा जिस के आसेवन वा जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाए उसे चारित्र धर्म कहते हैं वही मूलोत्तरगुणक्रियाकलापरूप धर्म भी है।

सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती। जैसे सूत्र में माला के मणके परोये हुए होते हैं, उसी प्रकार जिस मे अनेक प्रकार के अर्थ ओतप्रोत होते हैं, उसे सूत्र कहते हैं तथा जिस के द्वारा अर्थों की सूचना की जाती है वह सूत्र है। जो भली प्रकार कहा हुआ है, उस का नाम सूक्त है, प्राकृत भाषा में सूक्त शब्द का रूप भी 'सुत्त' ही बनता है। जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष वार्तालाप करने पर विना जागृत हुए उस वार्त्ता के भाव से अपरिचित रहता है ठीक उसी प्रकार विना व्याख्या पढ़े जिस का वोध न होसके उसे सूत्र कहते

---

१ पततो रक्षति सुगतौ च धत्ते इति

२ सिञ्चति क्षरति यस्मादर्थं तस्मात् सूत्रं निरुक्तविधिना वा सूचयति श्रवति श्रूयते सिच्यते स्मर्यते वा येनार्थ ॥१॥ अविवृत सुप्तमिव सुस्थितव्यापित्वात् सूक्तमिति ॥

३ य सूत्राभिप्रायः सोऽर्थोऽर्गते च यस्मादिति।

अतएव सिद्ध हुआ कि—सम्यग् श्रुत का अध्ययन करना श्रुतधर्म कहा जाता है। इस धर्म का विस्तार पूर्वक कथन इस लिये नहीं किया गया है कि—सव सम्यग् शास्त्र इसी विषय के भरे हुए हैं। सो उन शास्त्रों का अध्ययन करना ही सम्यग् श्रुतधर्म है ।

६ चारित्रधर्म—जिस धर्म के द्वारा कर्मों का उपचय दूर हो जाए, उसी को चारित्रधर्म कहते हैं । क्योंकि-"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" ज्ञान और क्रिया के द्वारा ही मोक्ष पद उपलब्ध हो सकता है। इस कथन से यह स्वतः ही सिद्ध है कि—केवल ज्ञान द्वारा मोक्ष उपलब्ध नहीं होता और नाहीं केवल क्रिया द्वारा मोक्षपद प्राप्त हो सकता है, किन्तु जव ज्ञानपूर्वक क्रियाएँ की जायँगी, तव ही आत्मा निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकेगा।

इस प्रकार जव सम्यग् ज्ञान होगया तव फिर सम्यग् चारित्र के धारण करने की आवश्यकता होती है। श्री भगवान् ने ठाणांग सूत्रस्थान २ उद्देश में प्रतिपादन किया है कि—

चरित्तधम्मे दुविहे पं० तं०—आगारचरित्तधम्मे अणगार—चरित्तधम्मे।

वृत्ति—चरितेत्यादि-आगारं-गृहं तद्योगादागाराः-गृहिणस्तेषां यश्चरित्रधर्मः—सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा एवमितरोऽपि नवरमगारं नास्ति येषां ते अनागाराः साधवः इति॥

भावार्थ—चरित्रधर्म दो प्रकार का है, जैसेकि—गृहस्थों का चरित्र और मुनियों का चरित्र। सो मुनियों के चरित्रधर्म का स्वरूप तो पूर्व संक्षेप से वर्णन कर चुके हैं, परन्तु गृहस्थों का जो चरित्रधर्म है उसका संक्षेप से इस स्थान पर वर्णन किया जाता है। क्योंकि धर्म से ही प्राणी का जीवन पवित्र हो सकता है। अव धर्मविन्दुप्रकरण से कुछ सूत्र देकर गृहस्थ धर्म का स्वरूप लिखा जाता है।

तत्र च गृहस्थधर्मोऽपि द्विविधः सामान्यतो विशेषश्चेति।

(धर्मविन्दु अ० १। सू० २।)

भावार्थ—गृहस्थ धर्म दो प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसेकि—एक सामान्य गृहस्थधर्म और दूसरा विशेष गृहस्थधर्म । अव शास्त्रकार सामान्य-धर्म के विषय में कहते हैं।

तत्र सामान्यतो गृहस्थधर्मः कुलक्रमागतमनिंद्यं विभवाद्यपेक्षया न्यायतोऽनुष्ठानमिति।

(धर्म० अ० १। सू० ३)

भावार्थ—कुलपरम्परा से जो अनिंदनीय और न्याययुक्त आचरण आ रहा हो तथा न्याय पूर्वक ही विभवादि उत्पन्न किए गए हैं, उन्हें सामान्यधर्म कहते हैं। गृहस्थ लोगों का यह सव से वढ़कर सामान्य धर्म है कि वे पवित्र कुलाचार

तथा समानकुलशीलादिभिरगोत्रैर्वैवाह्यमन्यत्र बहु विरुद्धेभ्य इति ॥

(धर्म० अ० १ । सू० १२ ।)

भावार्थ-जो देश वा धर्म से विरोध नहीं रखता तथा जिसका परस्पर वैर नहीं है उस व्यक्ति के साथ विवाह आदि का सम्बन्ध हो जाय तो वह व्यवहार पक्ष में हानि कारक नही माना जाता। परन्तु विवाह-सम्बन्ध करते समय तीन बातों का ध्यान तो अवश्यमेव कर लेना चाहिए,जैसे कि १ कुल अपने समान हो,२ शीलाचार अपने समान हो और सम्बन्धी अपने से भिन्न गोत्री हो। क्योंकि-अपने समान कुल मे हुआ सम्बन्ध बहुत से अकार्यों से बचाता है, जैसेकि-जब कन्या अपने से बड़े कुल में दीजाती है तब प्राय उस कन्या का महत्व नही रहता। जिस प्रकार लोग दास और दासी को देखते हैं, उसी प्रकार प्रायः उस कन्या के साथ श्वसुरगृह वालों का वर्ताव होजाता है। इतना ही नहीं किन्तु बहुत से निर्दयी पति इस धुन में लगे रहते हैं कि कब इस की मृत्यु हो और कब हम नूतन सम्बन्ध जोड़े। अब विचार किया जासकता है कि-जब पति के इस प्रकार के भाव उत्पन्न हो जाएं, तब उस विचारी अबला की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी? यदि कन्या अपनी अपेक्षा विभवादि से न्यून कुल मे दीजाती है, तब वह पितृगृह के अभिमान वश होकर पतिदेवता की अवज्ञा करने लगजाती है। सदैव काल उसके सम्बन्धियों को धिक्कारती रहती है, इतना ही नहीं किन्तु आप सदैव काल रूठी रहती है, जिसके कारण पति परम दुःख में पड़ जाता है तथा श्वसुर सम्बन्धी जन परम दुःखित हो जाते हैं। पति सदैव काल अपने जीवन को निरर्थक समझने लग जाता हैं। भागने की अथवा अपमृत्यु की इच्छा रखता है इत्यादि अनेक दोष जन्य कार्य होने से शास्त्रकार ने समानकुल का विशेषण दे दिया है। जिस प्रकार कुल समान की व्याख्या की जाती है ठीक उसी प्रकार शील भी सम होना चाहिए। कारण कि-यदि कुल आचरण ठीक नहीं है तब उस में कन्या भी सुख नहीं पासकती। जैसेकि कुल तो सम ठीक है परन्तु उस कुल में मद्य मांसादि का प्रचार है तथा वर (पति) व्यभिचारी है ऐसी दशा में किसी प्रकार से भी विवाह सुखप्रद नहीं होसकता। क्योंकि-व्यभिचारी पुरुष कभी भी पत्नी के लिये सुखप्रद नहीं माना जा सकता। एवं यदि विद्या भी सम नहीं है तब भी प्राय परस्पर वैमनस्य भाव उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि-विद्या के न होने से या विषम होने से परस्पर किसी बात के विचार में अवश्यमेव विरोध हो जाता है। इसी वास्ते सूत्रकर्ता ने आदि शब्द ग्रहण किया है। आयु का भी अवश्य विचार किया जा सकता है, क्योंकि-अनमेल विवाह कभी भी सुखप्रद नहीं माने जासकते। जैसे-

नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्त्री को स्वातंत्र्य नहीं मिलना चाहिए कारण कि-स्वतंत्रता प्रायः स्वच्छन्दता की पोषक होजाती है, जिसका पीछे निरोध करना अति कठिन होजाता है। स्वतंत्रता कर लेनी तो सुगम है परन्तु पीछे दूसरे की आज्ञा में वर्त्तना कठिन होजाता है, इस लिये अपरिमित स्वतंत्रता कभी भी सुखप्रद नहीं हो सकती। साथ ही जो स्त्रियां कुल में वृद्ध हों और माता के समान हित शिक्षा देने में दक्ष हों कुलवधू को उनकी आज्ञा में सदैव काल रहना चाहिए। कारण कि-उक्त स्त्रियों के वशवर्त्ती रहने से योग्यता तथा सदाचार बढ़ेगा और पातिव्रत्य धर्म दृढ़ता से पालन हो सकेगा। उनकी हितशिक्षा के प्रभाव से वे सदैव काल कदाचार से बचती रहेंगी, सो उक्त नियमों की सहायता से कुल वधूओं की रक्षा होसकती है।

तथा उपप्लुतस्थानत्याग इति

धर्मबिन्दु अ-१। १६॥

भावार्थ-जिस स्थान पर उपद्रव होने की संभावना हो या जहां वार २ उपद्रव होते हों वहां निवास न करना चाहिए। जिस स्थान पर अपने अथवा पर राजा के कारण उपद्रव उत्पन्न होने की आशंका हो तथा दुर्भिक्ष, मारी ईतियें (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टीड पतंगिये स्वचक्र वा परचक्र) वा परस्पर जनों के साथ विरोध हो, ऐसे स्थानों में रहने से गृहस्थों के धर्म, अर्थ और काम रूप तीनों धर्मों की भली प्रकार से रक्षा न हो सकेगी, चित्त अशान्त रहेगा। इस लिये ऐसे स्थानों का परित्याग करना ही गृहस्थ के लिये श्रेयस्कर है, ताकि चित्त की समाधि भली प्रकार से बनी रहे।

स्वयोग्यस्याश्रयणमिति —

धर्म०अ-१ सू-१७

इस सूत्र का यह आशय है कि-सुयोग्य पुरुष का आश्रय लेना चाहिए। कारण कि-गृहस्थावास में रहते हुए पुरुष को नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है, उसमे सुयोग्य व्यक्ति का आश्रय होने से वे कष्ट शांति पूर्वक भोगे जासकते हैं। जिस प्रकार महावायु और महामेघ की प्रचंड धारा से सुदृढ़ और सुरक्षित शालाएँ पुरुषों की रक्षक होती हैं, ठीक उसी प्रकार सुयोग्य व्यक्तियां विपत्ति काल में दुःखी पुरुषों की रक्षा करने में समर्थ होती हैं। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को योग्य है कि-महान् सुयोग्य व्यक्ति के आश्रित रहे। इस से एक और भी विशेष लाभ होता है वह यह कि—जब जनता को विदित होजाता है कि—अमुक व्यक्ति अमुक महान् व्यक्ति के आश्रित है तब आने वाले अनेक विघ्न स्वयमेव उपशम होजाते हैं। कारण कि-सदाचारी पुरुषों का संसर्ग होने से आत्मा विना उपदेश ही सदाचार की

जिस प्रकार स्वदेशी वेष के विषय में कहा गया है उसी प्रकार अन्य भाषादि स्वदेशी आचारों के विषय में भी जानना चाहिए । इसी वास्ते ऊपर कहा जा चुका है कि-प्रसिद्ध और प्रशंसनीय देशाचार के पालन करने वाला पुरुष सामान्यधर्म पालन करता हुआ विशेष धर्म के योग्य हो जाता है । क्यों कि-जो किसी की भी निंदा नहीं करता उसका आत्मा सदैव काल शांति में रहा करता है। यदि किसी अधिकारी व्यक्ति की निंदा की जावे तो उसका फल तत्काल उपलब्ध हो जाता है, यदि किसी सामान्य व्यक्ति की निंदा की जाए तो उसका परिणाम प्रायः कुछ समय के पश्चात् उपलब्ध हो जायगा। अतएव उक्त धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति किसी की भी निंदा न करे। अपितु निंदादि व्यसनों को छोड़ कर सदैव काल सदाचारी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। जब कुसंग का त्याग किया जायगा और सुसंगति में सदा चित्तवृत्ति लगी रहेगी, तब आत्मा इस क्रिया के महत्व से विशेषधर्म में प्रवृत्त हो सकेगा। आगे ग्रन्थकार ने लिखा है यथा—

"तथा मातापितृपूजेति"

इस सूत्र का आशय है कि-माता पिता की पूजा करनी चाहिए । कई लोग कह देते हैं कि-माता पिता की पूजा क्या पुष्पों और घंटाओं द्वारा होनी चाहिए ? इस प्रकार के कुहेतुओं के निराकरण के वास्ते उक्त सूत्र के वृत्ति करने वाले लिखते हैं कि-

मातापित्रोः जननीजनकयो पूजा त्रिसंध्य प्रणामकरणादि। यथोक्तम्—

पूजनं चाऽस्य विज्ञेयं त्रिसंध्य नमनक्रिया । तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चैतस्यारोपितस्य तु ॥

अस्येति-माता पिता कुलाचार्य एतेषा ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्ग सतां मत ॥

इति श्लोकोक्तस्य गुरुवर्गस्य ।

अभ्युत्थानादियोगस्य तदन्ते निभृतासनम्। नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥२१॥

भावार्थ—मातापिता की पूजा से अभिप्राय यह है कि—त्रिकाल प्रणामादि करके भक्ति करनी चाहिए। क्योंकि-कहा गया है कि-अवसर विना फिर ऊंचे भावों से चित्त में आरोपण किया हुआ गुरुजन (वृद्धवर्ग) वर्ग को त्रिकाल प्रणाम करना यही उन का पूजन है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-गुरुजनवर्ग में किस २ को गिनना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा है कि-माता, पिता, कुलाचार्य, (शिक्षागुरु), उनके सगे सम्बन्धी, वृद्ध और धर्म का उपदेश करने वाले। इन्ही को सत्पुरुषों ने गुरु माना है। गुरुवर्ग को किस प्रकार मान देना चाहिए ? अब इसी विषय मे कहते हैं—गुरु जन आवे तो खड़े हो जाना चाहिए, उनके सामने जाना चाहिए, आदि शब्द से सुख साता पूछनी, उनके पास निश्चल होकर बैठना चाहिए, अस्थान में (अघटित स्थान)

शाली बनगया तब रोगी के लिये उसका कितना भयानक परिणाम होगा और रोग को उपशम करने के लिए कितना परिश्रम करना पड़ेगा? यह कहने की आवश्यकता नही। इसके अतिरिक्त भोजन करते समय रसों में मूर्छित न होना चाहिए। कारण कि-स्तोकमात्र रस के वशीभूत होकर फिर परिमाण से अधिक भोजन किये जाने पर रोगो का मुंह देखना पड़ता है। फल रूप फिर आत्मा मे असमाधि भी उत्पन्न होजाती है। इसलिये आत्मा को समाधि मे रखने के लिये और धार्मिक क्रियाएँ पालन करने के लिये भोज्य पदार्थों मे अवश्य विवेक होना चाहिए। कतिपय विद्वानों का मत है कि-जब भोजन करने का समय आए तब उदर (पेट) के तीन भाग कल्पना करलेने चाहिएं जैसेकि-एक भाग अन्न से भर लिया, फिर दूसरा भाग पानी से भरे जाने पर उदर का एक भाग खाली रखा जाना चाहिए, ताकि जब किसी कारण से उक्त दोनों भागो में विकार उत्पन्न होजाए तब तीसरा भाग उस विकार को शान्त करले। इसलिये परिमाण से अधिक भोजन न करना सदैव काल पथ्यरूप माना गया है।

"तथा अदेशकालचर्यापरिहार इति"

इस सूत्र का मन्तव्य यह है कि-देश और काल से प्रतिकूल होकर कदापि न चलना चाहिए। जैसेकि—जो पुरुष विना समय अर्थात् अकाल मे गमनागमन करता है, वह अवश्यमेव लोगो की दृष्टि मे शंका का पात्र बन जाता है। क्योंकि-श्रेष्ठ आत्माएँ कदापि असमय गमनागमन नही करती। इसी प्रकार देश विषय में भी जानना चाहिए। तथा यावन्मात्र शंका के स्थान हैं, उन स्थानों पर कदापि न जाना चाहिए। जैसेकि-जिस स्थान पर वेश्याओ के गृह हैं, द्यूत-स्थान मदिरास्थान, तथा मांसादि के विक्रय के स्थान। यदि उन स्थानो पर पुनः २ गमनागमन होगा तब सभ्य पुरुषों की दृष्टि में वह अवश्यमेव शंका का पात्र बन जायेगा। अतएव सामान्य गृहस्थधर्म के पालन करने वाले व्यक्ति को योग्य है कि-वह प्रत्येक कार्य सावधानता-पूर्वक करने की चेष्टा करे, कारण कि-जिस कार्य को करते समय अपने बल और निर्बलता की परीक्षा नही की जाती, उस कार्य की सफलता भी शंका-स्पद ही रहती है। अतएव सिद्ध हुआ कि-कार्य करते समय अपने बल और अबल का अवश्यमेव ध्यान होना चाहिए अर्थात् धर्म, अर्थ और काम जिस प्रकार निर्विघ्न पालन किये जासके, उसी प्रकार वर्त्तना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि-जो ज्ञानादि से वृद्ध हैं उनकी संगति में हि विशेषतया समय व्यतीत किया जाए। यद्यपि कतिपय शास्त्रज्ञों का मत है कि-"तथा-अतिसगवर्जनमिति" किसी का भी अतिसंग न करना

परन्तु वह शस्त्र (दण्डादि) और वाहन द्वारा सफल की जासकती है। परन्तु।

"आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्या"

यावत् काल पर्यन्त शरीर पर प्रस्वेद न आजावे, तावत् काल पर्यन्त व्यायामाचार्य उसे व्यायाम नहीं कहते। सारांश यह निकला कि—जब शरीर प्रस्वेद युक्त होजाए तब ही उस क्रिया को व्यायाम क्रिया कहा जासकता है। तथा इस क्रिया के करने का मुख्य उद्देश्य क्या है? अब इस विषय मे आचार्य कहते हैं।

"अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च"

बिना व्यायाम किये अग्नि-दीपन, उत्साह और शरीर की दृढ़ता कहां से उपलब्ध होसकती है? अर्थात् नहीं होसकती। उक्त तीनों कार्य व्यायामशील पुरुषों को सहज में प्राप्त होजाते हैं। जैसेकि—जब व्यायाम द्वारा शरीर प्रस्वेद युक्त होगया तब जठराग्नि प्रचंड होजाती है, जिस से भोजन के भस्म होने में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता। दूसरे उस आत्मा का उत्साह भी औरों की अपेक्षा अत्यन्त बढ़ा हुआ होता है। वह अकस्मात् संकटो के आजाने से उत्साह-हीन नहीं होता। इस लिये व्यायामशील उत्साह युक्त माना गया है। तीसरे व्यायाम ठीक होने से शरीर का संगठन भी ठीक रहता है अर्थात् अंगोपांग की स्फुरणता और शरीर की पूर्णतया दृढ़ता ये सब बातें व्यायामशील पुरुषों को सहज मे ही प्राप्त होसकती हैं। पूर्व काल में इस क्रिया का प्रचार राजों महाराजों तक था। औपपातिक सूत्र में लिखा है कि—जब श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी चंपा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र उद्यान में पधारे तब कूणिक महाराज श्रीभगवान् के दर्शनार्थ जब जाने लगे तब पहिले उन्होंने "अट्टणसाला" व्यायामशाला में प्रवेश किया फिर नाना प्रकार की व्यायाम क्रियाओ से शरीर को श्रान्त किया। इस प्रकार व्यायामशाला का उस स्थान पर विशेषतया वर्णन किया गया है।

द्वादश तपों मे से बाहिर का कायक्लेश तप भी वास्तव में व्यायाम क्रिया का ही पोषक है, क्योंकि—वीरासनादि की जो क्रिया की जाती है वह शरीर को आयास (परिश्रम) कराने वाली हुआ करती है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि—बलवीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम करने का मुख्य साधन व्यायाम क्रिया ही है। इन्द्रिय, मन और मरुत् (वायु) का सूक्ष्मावस्था में होजाना ही स्वाप है। इस का तात्पर्य यह है कि—यावत् काल पर्यन्त परिश्रम करने के पश्चात् विधिपूर्वक शयन न किया जाये तब तक इंद्रिय और मन स्वस्थ नहीं रह सकता, नाँही फिर शरीर नीरोग रह

विशेषधर्म में आनन्दपूर्वक आरोहण होसकता है। जिस प्रकार संतान का उत्पन्न करना ही धर्म नहीं है, परन्तु उसे विद्वान् और सदाचारी बनाना भी मुख्य प्रयोजन है, ठीक उसी प्रकार सामान्यधर्म से फिर विशेषधर्म में प्रविष्ट होना गृहस्थ का मुख्य प्रयोजन है। सामान्यधर्म का फल प्रायः इस लोक में ही उपलब्ध होजाता है। जैसेकि—जो गृहस्थ सामान्यधर्म को पालन करने वाले हैं, उनका आसन सदाचारियों की पंक्ति में आजाता है, सभ्य पुरुष उनको ऊंची दृष्टि से देखते हैं, नाना प्रकार की पवित्र सम्मतियो के समय उनका नाम लिया जाता है और संसार पक्ष मे उन्हे योग्य पुरुष कहा जाता है। परन्तु जो विशेषधर्म है उसका परिणाम इस लोक और परलोक दोनों में सुखप्रद होजाता है। जैसेकि—इस लोक में वह पुरुष तो माननीय होता ही है, परन्तु परलोक में स्वर्ग मोक्ष के सुखों के अनुभव करने वाला होता है। क्योंकि—जब विशेषधर्म के आश्रित होगया तब उसका आत्मा पौद्गलिक सुख से निवृत्त होकर आत्मिक सुख की ओर झुकने लगता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के सन्मुख कदापि समानता धारण नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार पौद्गलिक सुख आत्मिक सुखों के सामने तुलना नहीं रखते। जिस प्रकार सूर्य के सन्मुख दीपक निस्तेज होजाता है, उसी प्रकार पौद्गलिक सुख आत्मिक सुखों के सामने नाम मात्र होते हैं। अतएव आत्मिक सुखों के उत्पादन के लिये विशेष धर्म की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब सुवर्ण को शुद्ध करना चाहते हो, तब सामान्य अग्नि से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकेगी, अपितु विशेष और प्रचण्ड अग्नि से कार्य-सिद्धि होगी। इसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिये विशेष क्रियाकलाप की आवश्यकता होती है। जब विशेष क्रियाओं से आत्म-शुद्धि हो जाती है तब आत्मा कर्मबंधन से विमुक्त हो कर निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है, जिसके सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, ईश्वर परमात्मा, पारंगत, अनन्तशक्ति, इत्यादि अनेक शुभ नाम प्रसिद्ध होरहे हैं। अतएव सामान्यधर्म को ठीक पालन करते हुए फिर विशेषधर्म की ओर झुक जाना चाहिए। ताकि आत्मा सादि अनन्त पद को प्राप्त हो सके और अन्य आत्माएं भी उस पवित्र आत्मा का अनुकरण करके उक्त पद पर आरूढ़ हों।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे सामान्यगृहस्थधर्मस्वरूपवर्णनात्मिका चतुर्थी कलिका समाप्ता।

मार्ग में स्थित रक्खें और प्राणी मात्र के हित करने में उद्यत रहें। जब इस प्रकार के पवित्र आत्माओं से धर्म-श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होजाएगा तब शीघ्र कल्याण होजाएगा।

जब मुनि वा उपासक के पास धर्म सुनने की जिज्ञासा से श्रोता उपस्थित हो, तब वे उसकी योग्यतानुसार धर्म कथा सुनाएं। शास्त्रकारों ने चार प्रकार की विकथा वर्णन की हैं। जैसेकि-स्त्रीकथा, भातकथा, राजकथा और देशकथा। किन्तु इन कथाओं से आत्मिक लाभ नहीं होसकता धर्मकथा के कथन करने का मुख्य प्रयोजन यही है कि-श्रोताजन को धर्म से प्रेम और संसार से निवृत्ति हो तथा उसके श्रवण करने से आत्मा निजस्वरूप में प्रविष्ट होजावे, मोहनीय कर्म क्षय वा क्षयोपशम भाव मे आजावे, आत्मा संवेग और वैराग्य में रंगा जावे। जब आत्मा वैराग्य दशा में आजाता है, तब वह पदार्थों के तत्त्व के जानने की खोज में लगजाता है जिस से उस को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होजाती है। " "तत्त्वश्रद्धान सम्यग् दर्शनम्" तत्त्वो के ठीक स्वरूप को जानने का ही नाम सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में लिखा है कि—

ना दंसणिस्स नाणं नाणेण विणान हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

भावार्थ—जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक ज्ञान भी प्राप्त नहीं होसकता। ज्ञान के विना चारित्र के गुण भी उत्पन्न नहीं होसकते अगुणी का मोक्ष नहीं है और विना मोक्ष से निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं होसकती। अतएव सब से प्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए

श्रमण महात्मा के प्रताप से सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होजाने पर प्रत्येक भव्य आत्मा श्रावक के १२ व्रतों (नियम) के धारण करने योग्य होजाता है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सम्वर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नव तत्वों के स्वरूप को ठीक जानने का नाम सम्यक्त्व है तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल जो उक्त ६ द्रव्यों के स्वरूप को भली प्रकार जानता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—सम्यक्त्व रत्न प्राप्त होने के पीछे उस सम्यग्दृष्टि आत्मा के कौन २ लक्षण प्रतीत होते हैं? जिन से जाना जाए कि इस पवित्र आत्मा को उक्त रत्न की प्राप्ति हो चुकी है। इस प्रश्न का उत्तर यह है जब किसी भव्य आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होजाती है तब उस के अनंतानुबंधि क्रोध, अनंतानुबंधि मान, अनंतानुबंधि माया और अनंतानुबन्धि

जब उनके मत में आत्मा का ही अभाव माना जाता है तब पुण्य, पाप, आश्रव, सम्वर, बंध, मोक्ष, लोक, परलोक, जगत् और ईश्वर इत्यादि सब बातों का अभाव होजाता है, जिस कारण वे अर्थ और काम के ही उपासक होजाते हैं। आस्तिक लोगों का मुख्योद्देश्य निर्वाणपद की प्राप्ति करना है। क्योंकि—उनके सिद्धान्तानुकूल उक्त तत्त्वों का अस्तिभाव सदा बना रहता है। वास्तव में देखा जाय तो नास्तिक मत की युक्ति आस्तिक पक्ष की युक्ति को सहन नहीं कर सकती। इसी वास्ते आस्तिकों के चार पुरुषार्थ प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जब तक वे संसारावस्था मे रहते हैं, तब तक वे धर्म अर्थ और काम के द्वारा अपना निर्वाह करते रहते हैं, परन्तु जब वे संसारावस्था से पृथक् होते हैं तब वे धर्म और मोक्ष के ही उपासक बन जाते हैं। जब वे संसारावस्था में रहते हैं तब वे विशेषधर्म के आश्रित होजाते हैं। जैसेकि—वे सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के १२ व्रतों को निरतिचार पालन करते रहते हैं। यदि उन आत्माओं को विशेष समय उपलब्ध होता है, तब फिर वे श्रावक की ११ पडिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) धारण करलेते है जो कि—एक प्रकार से जैन-वानप्रस्थ के नियम रूप हैं। सम्यक्त्व के पांच अतिचार वर्णन किये गए हैं। सो उन दोषों से रहित होकर ही सम्यक्त्व को शुद्ध पालन करना चाहिए, जैसेकि—

शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचारा इति।

(धर्मबिन्दु अ ३ सू १२)

वृत्ति—इह शंका कांक्षा विचिकित्सा च ज्ञानाद्याचारकथनमिति सूत्र-व्याख्या नोक्तलक्षणा एव। अन्यदृष्टीनां सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तानां शाक्यकपिलकणादाक्षपादादिमतवर्त्तिनां पाखंडिनां प्रशंसास्तवौ। तत्र "पुण्यभाज एते" सुलब्धमेषांजन्म' दयालव एते, इत्यादि प्रशंसा। संस्तवश्चेह संवासजनितः परिचयः वसनभोजनदानालापादिलक्षणः परिगृह्यते न स्त-वरूपः। तथा च लोके प्रतीत एव संपूर्वः स्तौतिः परिचये॥ असंस्तुतेषु प्रसभं भयेष्वित्यादाविवेति। ततः शंका च कांक्षा च विचिकित्सा च अन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवौ चेति समासः। किमित्याह सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दर्शनस्य अतिचारा विराधनाप्रकाराः संपद्यंते शुद्धतत्त्वश्रद्धानबाधाविधायित्वादिति॥ १२॥

भावार्थ—इस सूत्र मे यह कथन किया गया है कि—सम्यग्दृष्टि आत्मा को पांच अतिचार लगते हैं सो वे दूर करने चाहिएं। जैसेकि—

१ शंका—जिन वाणी मे कदापि शंका उत्पन्न नही करनी चाहिए कारण कि—सर्वज्ञोक्त वाणी मे असत्य का लेशमात्र भी नहीं होता। यदि भूगोल, खगोल, आयु तथा अवगाहन विषय आदि मे किसी प्रकार की शंका

दो इंद्रियों वाले जिनके केवल शरीर और मुख ही होता है यथा शंख, जोंक, गंडोयादि। त्रीन्द्रिय जीव, जैसे-जूं लीख, कीड़ी आदि। चतुरिन्द्रिय जीव जैसे-मक्खी, मशक (मच्छर) आदि। पञ्चेन्द्रिय जीव जैसे-नारकीय १ तिर्यग् २ मनुष्य और देवता; इन के स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां होती हैं। इन सब जीवों को जानकर और देख कर जो जीव निरपराध हैं उनके मारने का अवश्य त्याग होना चाहिए, किन्तु जो सापराध हैं उनके सम्बन्ध में कोई त्याग नहीं है। जैसेकि—कोई दुष्ट किसी श्रावक की स्त्री से व्यभिचार करने की चेष्टा करता है अथवा उसका धन लूटने के ध्यान मे लगा हुआ है या मारने के लिए कई प्रकार के उपाय सोच रहा है तो क्या वह श्रावक अपनी रक्षा के लिए उपाय न करे? अर्थात् अवश्य करे, क्योंकि-यदि मौन धारण किया जाएगा तो संसार में व्यभिचार विशेष विस्तृत हो जाएगा। अतएव गृहस्थ को निरपराध जीवों का ही त्याग हो सकता है न कि सापराध का भी। यदि जैन धर्म के पालन करने वाला कोई राजा श्रावक के १२ व्रत धारण कर ले तो क्या वह अपराधियों को दंडित नहीं करेगा? अवश्य करेगा। इस कथन से यह भली भांति सिद्ध हो रहा है कि-जैन-धर्म न्याय की पूर्ण शिक्षा देता है। उसका मन्तव्य है कि-निरपराधी जीवो को हास्य, लोभ, धर्म, अर्थ, काम, मूढ़ता, दर्प, क्रोध, मोह, अज्ञानता इत्यादि कारणों से न मारा जाए और जो सापराध हैं उनको उनके कर्मानुसार शिक्षित किया जाय यह गृहस्थ का न्याय धर्म है। गृहस्थ को इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता है कि-वह अपराधी को भी शिक्षित न करे। यदि कोई कहे कि-जब घर के सब काम काज करने पड़ते हैं तथा दुकान पर अनेक प्रकार के पदार्थों का क्रय विक्रय होता है तो क्या उस समय कोई निरपराधी जीव नहीं मारा जाता? जब उनका मरना सिद्ध है तो फिर 'निरपराधी जीव को नहीं मारना' यह नियम किस प्रकार पल सकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि-वादी ने जो उक्त प्रश्न किया है वह अक्षर २ सत्य है किन्तु जिस आत्मा ने अहिंसाव्रत धारण कर लिया है उसको प्रत्येक कार्य करते समय यत्न होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि-वह विना देखे कोई भी कार्य न करे। घर के वा दुकान के यावन्मात्र कार्य हैं वह विना देखे न करने चाहिए और नांही खाने योग्य पदार्थ विना देखे खाने चाहिएं एवं यावन्मात्र गृह सम्बन्धी कार्य हैं उनको विना यत्न कभी न करना चाहिए। यदि फिर भी जीव-हिंसा हो जाय तो श्रावक के त्याग मे दोष नहीं है। क्योंकि उस ने पहिले ही इस बात की प्रतिज्ञा करली है कि-जान कर देख कर वा मारने का संकल्प कर निरपराधी जीव को नहीं मारूंगा। शास्त्र मे लिखा है जैसेकि—

क्योंकि—उनके संकल्प उसको शिक्षित करने के ही होते हैं नतु मारने के। एवं कोई वैद्य या डाक्टर किसी रोगी के अंगोपांग छेदन करता हो तो उसके व्रत में दोष नहीं है। क्योंकि-उसके भाव उस रोगी को रोग से विमुक्त करने के हैं नतु मारने के। ऐसे अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं, जिनका सारांश भावों पर अवलम्बित है। सो गृहस्थ ने जो जानकर, देखकर वा संकल्प कर निरपराधी जीव के मारने का परित्याग किया हुआ है, वह अपने नियम को विवेक तथा सावधानता पूर्वक सुख से पालन कर सकता है। हां यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि-उक्त नियम वाले गृहस्थ को प्रत्येक कार्य करते समय विवेक और यत्न रखना होगा।

इस नियम को शुद्ध पालन करने के लिये श्रीभगवान् ने इस व्रत के पांच अतिचार प्रतिपादन किए हैं। जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स पाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासए णं पञ्च अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवोछेए॥ १॥

(उपासकदशाङ्गसूत्र अ० १॥)

भावार्थ—जब श्रमणोपासक सम्यक्त्व रत्न के पांच मुख्य अतिचारों को सम्यक्तया दूर कर दे तब उसको चाहिए कि-स्थूल प्राणातिपात वेरमण जो प्रथम अनुव्रत धारण किया हुआ है, उसके भी पांच अतिचार समझे किन्तु उन पर आचरण न करे। क्योंकि—आचरण करने से उक्त नियम भंग होजाता है। वे अतिचार निम्न प्रकार वर्णन किये गये हैं। जैसे—

बन्धअतिचार—पशु वा मनुष्यादि को निर्दयता से बांधने को बन्धअतिचार कहते हैं। उस का आचरण करने से पशु आदि को परम दुःख पूर्वक समय व्यतीत करना पड़ता है और बान्धने वाले का प्रथम व्रत भंग हो जाता है। अतः यदि किसी कारण से किसी जीव को बांधना भी पड़ जाय तो उसको कठिन बंधनों से न बांधना चाहिये। जैसे कि—व्यवहार पक्ष में गो, वृषभ, अश्व, गज आदि पशु बांधने पड़ते हैं, परन्तु बंधन करते समय कठिन बंधन का अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिये। ताकि-ऐसा न हो इस अनाथ पशु आदि के प्राण ही

---

१ इह खलु आणदाइ समणे भगवं महावीरे आणदं समणोवासग एव वयासी--एव खलु आणदा! समणोवासए ण अभिगयजीवाजीवेण जावअणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- सङ्का कङ्खा विइगिच्छा परपासडपसंसा परपासंडसंथवे॥ यह पाठ उपासकदशाङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन मे आता है। इसके आगे व्रतों के अतिचारों का वर्णन कियागया है। इस सूत्र का अर्थ प्राग्वत् ही है॥

उनकी यथोचित रक्षा न करना ये क्रियाएं हैं इन से प्रथम व्रत में दोष लगता है। अतएव उक्त पांचों प्रधान दोषों से रहित प्रथम अनुव्रत का पालन करना चाहिए।

थूलाओ मुसावाआओ वेरमणं

ठाणागसू-स्थान ५ उद्देश ॥ १ ॥

जब प्रथम अनुव्रत का पालन किया जाए फिर द्वितीय अनुव्रत को शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए। कारणकि-सत्यव्रत सर्व व्रतों में परम प्रधान है, आत्मविशुद्धि का परमोत्कृष्ट मार्ग है, लोक में प्रत्येक गुण का भाजन है। परन्तु सत्यव्रत के भी दो भेद हैं, जैसेकि—द्रव्यसत्य और भावसत्य। दृढ़ प्रतिज्ञा का ही नाम द्रव्य सत्य है, और जो षद् द्रव्यों के गुण पर्यायों को भली भांति जानना है तथा उन्ही पर्यायों के अनुसार सत्य भाषण करना है उसे भावसत्य कहाजाता है। अतएव भाव सत्य के लिए ज्ञानाभ्यास वा शास्त्रश्रवण का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए। सो श्रावक के सम्यक्त्व व्रत के होजाने से भावसत्य तो होता ही है, परन्तु द्रव्यसत्य के लिये शास्त्रकार ने स्थूल शब्द दे दिया है। क्योंकि—गृहस्थावास में रहते हुए गृहस्थ से सर्वथा मृषावाद का त्याग तो हो ही नहीं सकता। अतएव वह स्थूल मृषावाद का तो त्याग अवश्य कर दे। जैसेकि—

१ कन्यालीक—कन्याओं के लिये असत्य भाषण न करे।

२ गवालीक—गौ आदि पशु वर्ग के लिये असत्य न बोले।

३ भूम्यलीक—भूमि के लिये असत्य का भाषण न करे।

४ न्यासापहार—किसी ने विश्वास-पात्र पुरुष जान कर विना साक्षियो के वा विना लिखत किये वस्तु को धरोहर रख दिया जब उसने वह वस्तु मांगी तो कह देना कि—मुझे तो उक्त पदार्थ की खबर ही नहीं है, न मैंने उस पदार्थ को देखा है इत्यादि बातें करना।

५ कूटसाक्षी—असत्य साक्षी देना इत्यादि अनेक भेद स्थूल मृषावाद के हैं। सो दूसरे अनुव्रत के पालन करने वाला उक्त प्रकार के असत्य भाषणो का परित्याग कर दे। फिर इस व्रत की शुद्धि के पांच अतिचारो (दोषो) का भी परिहार करदे। जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स मुसावाय वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—सहसाअब्भक्खाणे रहसाअब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसोवएसे कूडलेह करणे।

उपासकदशाग सू. अ. ॥ १ ॥

भावार्थ—जब प्रथम अनुव्रत का स्वरूप अवगत हो जावे तब द्वितीय

दिखाया। सो भाव चोरी उसका नाम है जो निज गुण से वाहिर के पुद्ग-लादि पदार्थ हैं उनके परित्याग होने के परिणाम होने हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रकार ने द्रव्य चोरी की रक्षा के वास्ते पांच अतिचार प्रतिपादन किये हैं जो गृहस्थधर्म के पालने वाले व्यक्ति को कदापि आसेवन न करने चाहिएं। जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—तेणाहडे तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइक्कमे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ॥३॥

भावार्थ—द्वितीय अणुव्रत के पश्चात् तृतीय अणुव्रत का वर्णन किया जाता है। जो कि-स्थूल अदत्तादानत्यागरूप व्रत है। उसके भी पांच अतिचार वर्णन किये गए हैं जो कि—जानने योग्य तो हैं परन्तु आसेवन करने योग्य नहीं हैं। जैसेकि—

१ स्तेनाहृत—लालच के वश होते हुए चोरी का वहुमूल्य पदार्थ अल्प मूल्य में लेना। परन्तु जव वहुमूल्य वाले पदार्थ को अल्प मूल्य में लिया जायगा तो अवश्यमेव संदेह होसकता है कि—यह पदार्थ चोरी का है जिससे चोरों की जो दशा होती है जिसे लोग भली भांति जानते हैं, वही उसकी होती है। क्योंकि—चोरी का माल लेने वाला भी एक प्रकार का चोर है।

२ तस्करप्रयोगातिचार—चोरों को प्रेरित करना कि—तुम आजकल व्यर्थ कालक्षेप क्यों कर रहे हो? चोरी करो, तुम्हारी चोरी का माल हम विक्रय कर देंगे। इस प्रकार करने से तृतीय अणुव्रत में दोष लगता है।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—राजा की आज्ञा का पालन न करना। जैसे कि—राजा की आज्ञा हुई कि-अमुक राजा के देश से व्यापार मत करो, परन्तु उसकी आज्ञा पर न रह कर उस देश से व्यापार करते रहना। सो जो राजा न्याय से राज्य शासन कर रहा है उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर देना यह भी उक्त व्रत मे दोष का कारण है।

४ कूटतुलाकूटमानातिचार—तोलने और मापने मे न्यूनाधिक करना। क्योंकि-इस प्रकार करने से व्यापार का नाश होजाता है। यदि यह विचार किया जाए कि—इस प्रकार से लक्ष्मी की वृद्धि होजाएगी तो यह विचार अतिनिकृष्ट है, क्योंकि लक्ष्मी की स्थिति न्याय से होती है नतु अन्याय से। अतएव धर्म और व्यापार की शुद्धि रखने के लिये व्यापारी वर्ग को उक्त दोष पर अवश्य विचार करना चाहिए।

५—तत्प्रतिरूपकव्यवहार—शुद्ध वस्तु मे उसके सदृश वा उसके असदृश वस्तु मिला कर वेचना। जैसेकि—दुग्ध मे जल, केशर मे कसुंवा, घृत

१ इत्वरकालपरिगृहीतागमन–कामबुद्धि के वशीभूत होकर अगर इस प्रकार विचार करो कि–मेरा तो केवल पर स्त्री के गमन करने का ही त्याग है इसलिये किसी स्त्री को विशेष लोभ देकर कुछ समय के लिये अपनी स्त्री बना कर रख लूं तो क्या दोष है ? तो उसका यह विचार सर्वथा अयुक्त है क्योंकि–इस प्रकार करने से वह स्वदारासंतोषव्रतअतिचार रूप दोष से कलंकित होजाता है। कतिपय आचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार से भी करते है कि–यदि लघु अवस्था में ही विवाह संस्कार होगया हो तो यावत्काल पर्यन्त उस स्त्री की अवस्था उपयुक्त न होगई हो तावत्कालपर्यन्त उसके साथ समागम नहीं करना चाहिए, नहीं तो व्रत कलंकित होजाता है।

२ अपरिगृहीतागमन—जिस का विवाह संस्कार नहीं हुआ है जैसे वेश्या, कुमारी कन्या, तथा अनाथ कन्या इत्यादि। उनके साथ गमन करते समय अगर विचार किया जाय कि–मेरा तो केवल परस्त्री के संग करने का नियम है, परन्तु ये तो किसी की भी स्त्री नहीं है। इसलिए इनके साथ गमन करने से दोष नहीं; तो उसका यह विचार अयुक्त है। क्योंकि–इस प्रकार के कुतर्क से उक्त व्रत को कलंकित किया जाता है। कतिपय आचार्य इस प्रकार से भी उक्त सूत्र का अर्थ करते है कि—यदि किसी कन्या के साथ मंगनी होगई हो परन्तु विवाह संस्कार नहीं हुआ हो, और उसी कन्या का किसी एकान्त स्थान मे मिलना होगया हो तो भावी स्त्री जान कर यदि संग किया जाएगा तब भी उक्त नियम भंग हो जाता है।

३ अनंगक्रीड़ा—काम की वासना के वशीभूत होकर परस्त्री के साथ कामजन्य उपहास्यादि क्रियाएँ करनी तथा काम जागृत करने की आशा पर पर-स्त्री के शरीर को स्पर्श करना वा अन्य प्रकार से कुचेष्टाएँ करनी ये सब क्रियाएँ उक्त व्रत को मलीमस करने वाली मानी जाती हैं। अतः इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

४ परविवाहकरण—अपने सम्बन्धियों को छोड़ कर पुण्य प्रकृति जान कर वा लोभ के वशीभूत होकर परविवाह करने के लिए सदैव उद्यत रहना यह भी उक्त व्रत के लिये अतिचार रूप दोष है। क्योंकि—मैथुन प्रवृत्ति करना पुण्य रूप नहीं हुआ करता। वृत्ति मे भी लिखा है —"परविवाहकरणे' त्ति–परेषाम् आत्मन आत्मीयापत्येभ्यश्च व्यतिरिक्ताना विवाहकरण परविवाहकरणम्। अयमभिप्राय –स्वदार-संतोषिणो हि न युक्त परेषा विवाहादिकरणेन मैथुननियोगोऽनर्थको विशिष्टविरतियुक्तत्वादित्येव-मनाकलयतः परार्थकरणोद्यततया अतिचारोऽयमिति"—इसका अर्थ प्राग्वत् है। तथा कोई २ आचार्य इस सूत्र का अर्थ यह भी करते है कि–यदि किसी कन्या का सम्बन्ध विवाह संस्कार से पूर्व ही किसी अन्य पुरुष के साथ होगया है,

रत्न उपलब्ध होजाता है जिस के कारण से वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करसकता है। सो धन, धान्य, क्षेत्र, वाहन, गृह, दास, दासी आदि का यावन्मात्र परिमाण किया गया हो उस को फिर उसी प्रकार पालन करना चाहिए। क्योंकि—इस अणुव्रत के भी पांच ही अतिचार रूप दोष वर्णन किये गए हैं जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—खेत्तवत्थु पमाणाइक्कमे हिरण्ण सुवण्ण पमाणाइक्कमे दुपयचउप्पय पमाणाइक्कमे धणधान्नपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे ॥

भावार्थ—चतुर्थ अणुव्रत के पश्चात् श्रमणोपासक को इच्छा परिमाण अनुव्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएं किन्तु उन पर आचरण न करना चाहिए जैसेकि—

१ क्षेत्रवास्तुकप्रमाणातिक्रम—क्षेत्र (भूमि) वा गृहादि का यावन्मात्र परिमाण किया गया हो जैसेकि—इयान्मात्र हलों की भूमि का मैं परिमाण करता हूं तथा आरामादि का परिमाण करता हूं। इसी प्रकार हट्ट हवेली आदि का परिमाण करता हूं सो यावन्मात्र परिमाण किया हुआ हो उसे अतिक्रम न करना चाहिए। यदि वह परिमाण उल्लंघन किया जायगा तव उक्त अणुव्रत मे अतिचार रूप दोष लग जायगा अतएव परिमाण करते समय सर्व प्रकार से विचार लेना चाहिए जिस से फिर व्रत में दोष न लग जावे।

२ हिरण्य सुवर्णप्रमाणातिक्रम-घटित और अघटित चाँदी और सुवर्ण का यावन्मात्र परिमाण किया गयाहो उस परिमाण को अतिक्रम न करना चाहिए। जब उक्त पदार्थ परिमाण से अधिक बढ़ जाएँ तब लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं करना चाहिए कि-यह पदार्थ पुत्र की निश्राय है, यह पदार्थ धर्मपत्नी की निश्राय किया गया है तथा यह पदार्थ जब पुत्र उत्पन्न होगा उसके जन्मोत्सव में लगा दिया जायगा। इन संकल्पो से उक्त व्रत दूषित होजाता है। अतएव जिस प्रकार उक्त पदार्थों का परिमाण किया हुआ है उस परिमाण को उसी प्रकार पालन करना चाहिए यदि उक्त प्रकार पालन नही किया जायेगा तो उक्त व्रत मलिन होजायगा।

३ धनधान्य प्रमाणातिक्रम—यावन्मात्र धन और धान्यादि (अनाज) का परिमाण किया गया हो उसको अतिक्रम कर देना उक्त व्रत मे दोष का कारण है। अतएव उक्त परिमाण विधिपूर्वक पालन करना चाहिए। धन आदि की वृद्धि हो जाने पर कुतर्कों द्वारा व्रत को मलिन न करना चाहिए। जैसेकि- परिमाण मै ने किया है इसलिये पदार्थ को मै अपनी स्वाधीनता मे

ज्वा तंजहा–उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिय दिसि पमाणाइक्कमे खेत्तवुड्ढी सइअन्तरद्धा ॥

भावार्थ—पंचम अणुव्रत के पश्चात् छठे दिग्व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएं परन्तु आचरण न करना चाहिए। जैसेकि—

१ उर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रमातिचार-यावन्मात्र ऊर्ध्व दिशामें जाने का परिमाण किया गया हो उसको अतिक्रम करना प्रथम अतिचार है।

२ अधोदिग् परिमाणातिक्रम अतिचार–नीची दिशा में यावन्मात्र जाने का परिमाण किया गया हो, उस परिमाण को अतिक्रम करना इस व्रत का दूसरा अतिचार है।

३ तिर्यक् दिग् परिमाणातिक्रम अतिचार–यावन्मात्र तिर्यग् दिशा में गमन करने का परिमाण किया हो। जैसेकि-अपने नगर से चारों ओर हजार २ योजन वा कोस तक जानेका परिमाण कर लिया हो परन्तु फिर उस परिमाण का अतिक्रम कर जाना इस व्रत का तीसरा अतिचार है।

४ क्षेत्र वृद्धि–यावन्मात्र परिमाण किया गया हो उस परिमाण में परस्पर न्यूनाधिक कर लेना। जैसेकि–पूर्वदिशा में जाने का सौ योजन का परिमाण किया गया हो और सौ ही योजन पश्चिम दिशा में जाने का परिमाण हो परन्तु पूर्व दिशा में विशेष काम जानकर उस के डयोढ़े योजन कर लेने और पश्चिम में पच्चास ही योजन रख लेने। इस प्रकार करने से उक्त व्रत में दोष लगता है। क्योंकि–यह एक प्रकार का कुतर्क है।

५ स्मृति अन्तर्धान अतिचार–यदि गमन करते समय स्मृति विस्मृत हो जाए और उस शंका मे आगे चला जावे तब भी उक्त व्रत मे दोष लगता है। क्योंकि–स्मृति के विस्मृत होजाने पर भी आगे चलते जाना व्रत को मलिन करता है। अतएव उक्त पांचो दोषो के परिहार पूर्वक इस गुणव्रत को शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए।

उपभोगपरिभोगगुणव्रत–इसगुणव्रत मे खान पान और व्यापारादि का वर्णन किया गया है। जहां तक बन पड़े गृहस्थ को योग्य है कि–वह इस प्रकारका भोजन न करे जो सचित्त और बहु हिंसास्पद हो। क्योंकि-भोजन करने का वास्तव में यह उद्देश है कि–शरीर रहे। सो शरीर को भाटक देना तो एक प्रकार का सुयोग्य कर्तव्य है किन्तु शरीर का सेवक बन जाना और उसके लिए नाना प्रकार के पापोपार्जन करने तथा स्वादु पदार्थों का ही अन्वेषण करते रहना यह कदापि प्रशंसनीय नही है। अतएव प्रथम मद्य और मांस का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि–मद्य और मांस के सेवन से प्रायः

२ द्रव्यनियम—अपने मुख में अपनी अंगुली के विना यावन्मात्र पदार्थ खाने में आते हैं, उनकी द्रव्य संज्ञा है, सो इस बात का नित्यप्रति परिमाण कर लेना चाहिए कि-आज मैं इतने द्रव्य आसेवन करूंगा । जैसे कि-मूंग की दाल-एक द्रव्य, गेहूं की रोटी-दो द्रव्य, पानी-तीन द्रव्य। इसी प्रकार अनेक द्रव्यों की कल्पना कर लेनी चाहिए। परन्तु इस विषय मे दो प्रकार से परिमाण किया जाता है जैसे कि-एक तो सामान्यतया और दूसरे विशेषतया । यदि सामान्यतया परिमाण करना हो तो मूंग की दाल, उड़द की दाल, हरहर की दाल इत्यादि सर्व प्रकार की दालें एक द्रव्य मे गिनी जायेंगी और विशेषतया परिमाण करना हो तो दालों के जितने नाम हैं तावन्मात्र ही द्रव्य गिने जायेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यों के विषय जानना। सो द्रव्यपरिमाण बांधते समय सामान्य विशेष का अवश्य ध्यान रखना चाहिए । इस नियम से तृष्णा का निरोध और संतोषवृत्ति की प्राप्ति होती है। साथ ही "परिणामान्तरापन्न द्रव्यमुच्यते" इस वाक्य का अर्थ जान लेना चाहिए अर्थात् द्रव्य उसको कहते हैं जो अपने परिणाम से अन्य परिणाम मे परिणत होगया हो ।

३ विगयनियम-जो पदार्थ विकृत रूप से उत्पन्न हुआ है वह विगय कहलाता है। वह विगय नव हैं जैसे मद्य १ मांस २ मदिरा ३ नवनीत ४ दुग्ध ५ दही ६ घृत ७ तेल ८ गुड़ ९। जिनमें गृहस्थ के लिये मद्य और मांस का तो सर्वथा त्याग होता ही है, परन्तु शेष विगयों का परिमाण अवश्यमेव होना चाहिए। अतएव गृहस्थ को उचित है कि-शेष विगयो का नित्यंप्रति परिमाण करता रहे ।

४ उपानहनियम-जोड़ा पगरखा—बूट आदि पदार्थ जो पाओं के वेष्टन के काम आते हैं उनका परिमाण करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो सर्वथा ही धारण न करने का नियम करदे क्योंकि ये सब आडम्बर जीवहिंसा के कारणभूत हैं परन्तु यदि संसार मे रहते हुए उक्त क्रियाओं का परित्याग न होसके तो उनका परिमाण अवश्यमेव होना चाहिए।

५ तांबूलपरिमाण-जो पदार्थ मुख शुद्धि के लिये ग्रहण किये जाते हैं । जैसेकि—पान, सुपारी, लवंग, इलायची आदि। उनका परिमाण करना चाहिए।

६ वस्त्रविधिपरिमाण-वस्त्रों के धारण करने की संख्या नियत करनी चाहिए। जैसेकि-आज और इतनी संख्या मे पहनूंगा । अमुक २ वस्त्र पहरूंगा २ स्वदेशी वा विदेशी वस्त्र तथा कार्पास के इस प्रकार वस्त्रविधि में सर्व जाति के वस्त्रों का परिमाण होना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रहे कि-जिस वस्त्र में हिंसादि कृत्यों की विशेष संभावना हो वह वस्त्र त्याग देना चाहिए।

७ पुष्पविधि परिमाण-अपने भोगने के लिये पुष्पों का परिमाण करना

माण करने की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि-परिमाण करने के पश्चात् आत्मा संतोष वृत्ति में आजाता है।

यदि उक्त पदार्थों का सविस्तार स्वरूप देखना हो तो उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथमाध्याय और आवश्यक सूत्र का चतुर्थाध्याय को देखना चाहिए। उक्त दोनों सूत्रों मे "दंतणविहि" सूत्र से लेकर २६ अंकवर्णन किये गए है अर्थात् दांतून करने का परिमाण करे। जैसेकि-अमुक वृक्ष की दांतून करूंगा।

उक्त सूत्र के पठन करने से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि--श्रावकवर्ग को प्रत्येक वस्तु का परिमाण करना चाहिए। किन्तु जो मांस और मद्य इत्यादि अभक्ष्य पदार्थ हैं उनका सर्वथा ही त्याग किया जाता है

भोजन विधि का परिमाण करने के पश्चात् फिर १५ पंचदश कर्मादान--पाप कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए जैसेकि

कम्मओ य समणोवासएणं पणदसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं तंजहा इङ्गालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाड़ीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लञ्छणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलावसोसणया असईजणपोसणया।

उपासकदशाङ्गसूत्र अ. १॥

भावार्थ-शास्त्रकारने १५ व्यापार इस प्रकार के वर्णन किये है, जिन के करने से हिंसा विशेष होती है। इसी वास्ते उन कर्मों के उत्पत्ति कारण को जानना तो योग्य है, परन्तु वे कर्म ग्रहण न करने चाहिएं। क्योंकि-जो श्रावक आस्तिक और निर्वाणगमन की अभिलाषा रखता है उसको बहुहिंसक व्यापारों से पृथक् ही रहना चाहिए और जहाँ तक बन पड़े आर्य व्यापारो से ही अपने निर्वाह करने का उपाय सोचना चाहिए। यदि किसी कारण वश आर्य व्यापार उपलब्ध न होते हों तब वह दासकर्म आदि कृत्यो से तो अपना निर्वाह करले परन्तु मद्य और मांसादि अनार्य व्यापार कदापि न करे

अब पंचदश कर्मादानो का नीचे संक्षेप से स्वरूप दिखलाते है। जैसेकि-

१ अंगारकर्म-यावन्मात्र अग्नि के प्रयोग से व्यापार किये जाते हैं वे सब अंगारकर्म में ही ग्रहण किये जातेहैं। जैसे-कोयले का व्यापार, ईटो का पकाना, लुहार का काम, हलवाई का काम, धातु का काम इत्यादि। जो अपने वास्ते श्रावक को अग्नि का प्रयोग करना पड़ता है उसका उस को परित्याग नहीं है। जैसेकि-भोजनादि के वास्ते अग्नि का आरंभ करना पड़ता है तथा

की जाती है अतएव श्रावक को उक्त प्रकार का वाणिज्य न करना चाहिए।

पांच प्रकार के सामान्य कर्म प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि-

११ यंत्रपीडनकर्म — यंत्र (मशीन) द्वारा तिल और इक्षु आदि का पीडना यह भी हिंसा का निमित्त कारण है।

१२ निर्लाञ्छनकर्म—वृषभ आदि का नपुंसक (खस्सी) करना।

१३ दावाग्निदानकर्म—वन को आग लगा देना। जैसेकि-कोई व्यक्ति जो धर्म से अनभिज्ञ हो उसके मन में यह संकल्प उत्पन्न हो जाता है कि-यदि मैं वन को अग्नि लगा दूंगा तब इस वन में नूतन घास उत्पन्न होजायगी जिससे प्रायः पशुवर्ग को बड़ा सुख प्राप्त होजायगा अतएव वन को अग्नि लगाना एक प्रकार का धर्मकृत्य है। परन्तु जो उस अग्नि द्वारा असंख्य जीवों का नाश होना है उस का उस को सर्वथा बोध नहीं है। अतएव यह कर्म भी न करना चाहिए।

१४ सरोहृदतडागपरिशोषणताकर्म—स्वभाव से जो जल भूमि से उत्पन्न होजावे उसे सर कहते हैं। नद्यादि का निम्नतर जो प्रदेश होता है. उस का नाम ह्रद है तथा जो जल भूमि-खनन से उत्पन्न किया गया हो उसका नाम तड़ाग है। उपलक्षण से यावन्मात्र कूपादि जलाशय हैं उन को अपने गोधूमादि खेतों को वपने के वास्ते सुखा देवे तथा अन्य किसी कारण को मुख्य रख कर जलाशयों को शुष्क करदेवे तो महाहिंसा होने की संभावना की जाती है। जैसेकि एक तो पानी के रहने वाले जीवों का विनाश दूसरे जो जल के आश्रय निर्वाह करने वाले जीव हैं उनका नाश। अतएव यह कर्म भी गृहस्थो को परित्याग करने योग्य है।

१५ असतीजनपोषणताकर्म—हिंसा के भाव रख कर हिंसक जीवो की पालना करनी। जैसेकि-शिकार के लिये कुत्ते पालने, मूषकों के मारने के लिये मार्जार की पालना तथा किसी अनाथ कन्या की वेश्या वृत्ति के लिये पालना करनी इत्यादि। इसी प्रकार हिंसक जीवों के साथ व्यापार करना, क्योंकि— उनके साथ व्यापार करने से हिंसक कर्मों की विशेष वृद्धि होजाती है। इस कर्म में व्यापार सम्बन्धी उक्त क्रियाओ के करने का निषेध किया गया है, अनुकंपा के वास्ते नही। सो विवेकशील गृहस्थो को योग्य है कि-वे उक्त पंचदश कर्मादानो का परित्याग करदें। फिर उपभोग परिभोग गुणव्रत के पांच अतिचार भी छोड़दे। जो निम्नलिखितानुसार हैं।

तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं पंचअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धहारे अप्पउलिओ

स्वच्छ और सुखप्रद है, उसी मार्ग के समीप वनस्पति तथा घास से युक्त दूसरा उपमार्ग हो तो फिर वह गृहस्थ क्यों उस राजमार्ग को छोड़ कर उपमार्ग में चलने लग पड़े ? कदापि नहीं । बस इसी का नाम अनर्थदंड है, क्योंकि उपमार्ग पर चलने से जो वनस्पतिकाय आदि जीवों की हिंसा हुई है वह हिंसा अनर्थ रूप ही है । इसी प्रकार अन्य विषयों के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए ।

शास्त्रकार महर्षियो ने अनर्थदंड के मुख्यतया चार भेद प्रतिपादन किये हैं, जैसेकि—अपध्यान १ पापोपदेश २ हिंसाप्रदान ३ प्रमादाचरित ४

१ अपध्यान अनर्थदंड—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न करना चाहिए क्योकि—जब सुख वा दुःख कर्माधीन माना जाता है तो फिर फल की असिद्धि में चिंता वा शोक क्यों ? क्योंकि-जो कर्म बांधा गया है उस कर्म ने अवश्यमेव उदय होकर फल देना है । सो इस प्रकार की भावनाओं से चिंता वा रौद्रध्यान दूर कर देना चाहिए ।

२ पापोपदेश-अपने से भिन्न अन्य प्राणियों को पापकर्म का उपदेश करना । जैसे कि—तुम अमुक हिंसक कर्म अमुक रीति से करो ।

३ हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड—जिन पदार्थों के देने से हिंसक क्रियाओं की निष्पत्ति होवे उन पदार्थों का दान करना, यह अनर्थदण्ड है । जैसेकि—शस्त्र और अस्त्रों का दान करना तथा मूशल वा वाहन अथवा यानादि पदार्थों का दान करना ।

४ प्रमादाचरण अनर्थदण्ड—धर्म क्रियाओं के करने में तो आलस्य किया जाता है, परन्तु नृत्यकलादि के देखने में आलस्य का नाम मात्र भी नहीं इस का नाम प्रमादाचरण अनर्थ दण्ड है तथा यावन्मात्र धर्म से प्रतिकूल क्रियाएं हैं जिन से संसार चक्र में विशेष परिभ्रमण होता हो उसी का नाम प्रमादाचरण है । शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श इन के भोगने की अत्यन्त इच्छा और उन के (भोगने के) लिये ही पुरुषार्थ करते रहना उसे प्रमादाचरण दण्ड कहते हैं ।

इस गुण व्रत की रक्षा के लिये शास्त्रकारो ने पांच अतिचार प्रतिपादन किये हैं जैसेकि—

तयाणान्तरं चणं अणट्ठादण्ड वेरमणस्स समणोवासएणं पंचअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—कंदप्पे कुकइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोग परिभोगाइरित्ते ॥८॥

भावार्थ—सातवे उपभोग और परिभोग गुणव्रत के पश्चात् आठवे

'सम' भाव रखने से आत्मा को ज्ञान दर्शन और चारित्र का सम्यग्तया 'आय' लाभ होजायगा। जिस समय आत्मा सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्र से 'इकण्' एक रूप होकर ठहरेगा उस समय को विद्वान् 'सामायिक' काल कहते हैं। सो जबतक आत्मा को सामायिक के समय की प्राप्ति पूर्णतया नहीं होती तब तक आत्मा निजानन्द का अनुभव भी नहीं कर सकता। सो निजानन्द को प्रकट करने के लिये, समता रस का पान करने के लिये, आत्मविशुद्धि के लिये, दैनिक चर्या के निरीक्षण के लिये, आत्मविकाश (स) के लिये प्रत्येक श्रावक को दोनों समय सामायिक अवश्यमेव करनी चाहिए। सामायिक व्रत करने के वास्ते चार विशुद्धियों का करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसेकि—

१ द्रव्यशुद्ध—सामायिक द्रव्य (उपकरण) जैसे आसन, रजोहरणी, मुख वस्त्रिका तथा अन्य शरीर वस्त्र शुद्ध और पवित्र होने चाहिएं। जहां तक बन पड़े सामायिक का उपकरण सांसारिक क्रियाओं मे नही वर्तना चाहिए।

२ क्षेत्रशुद्धि—सामायिक करने का स्थान स्वच्छ और शांतिप्रदान करने वाला हो। स्त्री पशु वा नपुंसक से युक्त तथा मन के भावों को विकृत करने वाला न होना चाहिए। जिस स्थान पर कोलाहल होता हो और बहुतसे लोगों का गमनागमन होता हो उस स्थान पर समाधि के योग स्थिर नहीं रह सकते। अतएव सामायिक करने वालो के लिये क्षेत्रशुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है।

३ कालशुद्धि—यद्यपि सामायिक व्रत प्रत्येक समय किया जा सकता है तथापि शास्त्रकारों तथा पूर्वाचार्यों ने दो समय आवश्यकीय प्रतिपादन किये हैं जैसेकि-प्रातःकाल और सायंकाल। सो दोनो समय कम से कम दो दो घटिका प्रमाण सामायिक व्रत अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि-जो क्रियाएँ नियत समय पर की जाती हैं, वे बहुत फलप्रद होती हैं।

४ भावशुद्धि—सामायिक करने के भाव अत्यन्त शुद्ध होने चाहिएं। इस कथन का सारांश इतना ही है कि-लज्जा वा भय से सामायिक व्रत धारण किया हुआ विशेष फलप्रद नहीं हुआ करता। अतः शुद्ध भावो से प्रेरित होकर सामायिक व्रत धारण करना चाहिए।

उपरोक्त सामायिक व्रत के भी पांच अतिचार है, जिनका जानना तो आवश्यक है किन्तु उन पर आचरण नही करना चाहिए यथा—

तयाणन्तरं चणं सामाइयस्स समणोवासएणं पञ्चअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वयदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइ अकरणया सामाइयस्स अणवठियस्स करणया ॥ ९ ॥

व्रत का मुख्योद्देश्य इच्छा का निरोध करना ही है। क्योंकि-इच्छाओं के निरोध से ही आत्मिक शाँति उपलब्ध हो सकती है।

देशावकाशिक व्रत धारण कर लेने के पश्चात् श्रावक को इस व्रत के भी पांच अतिचार छोड़ने चाहिएं जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं देसावगासियस्स समणोवासएणं पञ्चअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा-तंजहा—आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए वहियापोग्गलपक्खेवे ॥ १० ॥

उपासकदशाङ्गसूत्र अ०॥ १॥

१ आनयनप्रयोग—आवश्यकीय काम पड़ जाने पर परिमाण से वाहिर भूमि से किसी पदार्थ का किसी के द्वारा मंगवाना, यह देशावकाशिक व्रत का प्रथम अतिचार है। क्योंकि-क्षेत्र का परिमाण हो जाने पर फिर परिमाण से वाहिर क्षेत्र से वस्तु का मंगवाना योग्य नही है।

२ प्रेष्यप्रयोग—जिस प्रकार वाहिर के क्षेत्र से वस्तु मंगवाने का अतिचार प्रतिपादन किया गया है। उसी प्रकार वस्तु के प्रेषण करने का भी अतिचार जानना चाहिये।

३ शब्दानुपात—परिमाण की भूमि से वाहिर कोई अन्य पुरुप जा रहा हो उस समय आवश्यकीय कार्य कराने के निमित्त मुख के शब्द से अर्थात् आवाज़ देकर उस पुरुप को अपना वोध करा देना। क्योंकि-वह पुरुप जान लेगा कि-यह शब्द अमुक पुरुप का है। इस प्रकार करने से भी अतिचार लगता है।

४ रूपानुपात—जिस समय देशावकाशिक व्रत में वैठा हो उस समय किसी व्यक्ति से कोई काम कराना स्मृति आगया तव अपना रूप दिखला कर उस को वोधित करना उस का नाम रूपानुपात अतिचार है। जैसे कि— गवाक्षादि में वैठकर अपना रूप दिखला देना ।

५ पुद्गलाक्षेप अतिचार—परिमाण की हुई भूमि से वाहिर कोई वस्तु गिराकर अपने मन के भावों को औरों के प्रति प्रकाश करना यह भी अतिचार है।

तदनन्तर एकादशवां पौपधोपवास व्रत है। उपवास करके आठ पहर विशेप धर्मध्यान में व्यतीत करना, 'पोपध' कहलाता है। पर्व के दिनो में, जैसे कि-द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या वा पौर्णमासी आदि तिथियों में शुद्ध वसति पोपधशालादि स्थान में सांसारिक कार्यो को छोड़कर पौपधोपवास करना चाहिए। जहां तक वन पड़े वह पवित्र समय ध्यानवृत्ति मे ही लगाना चाहिए, क्योकि-विना ध्यान समाधि नही लग सकती है। साथ ही पौपधोपवास में सांसारिक कार्य वा स्नानादि क्रियाएं त्याग

प्रकार के खान पान सम्बन्धी संकल्प विकल्प उत्पन्न करना। इन पांच अति-चार रूप दोषों को छोड़कर शुद्ध पौषधोपवास धारण करना चाहिए।

पौषधोपवास व्रत के पश्चात् द्वादशवाँ अतिथिसंविभाग व्रत विधि पूर्वक पालन करना चाहिए। क्योंकि-साधु का नाम वास्तव में अतिथि है। उस ने सर्व प्रकार की सांसारिक तिथियों को छोड़ कर केवल आत्म-ध्यान में ही चित्त स्थिर करलिया है। अतएव जब वे भिक्षा के लिये गृहों में प्रविष्ट होते हैं तब किसी तिथि के आश्रित होकर घरों में नहीं जाते। नाँही वे प्रथम गृहपति को सूचित करते हैं कि-अमुक दिन हम आप के गृह में भिक्षा के लिये अवश्य आएँगे। अतः ऐसे भिक्षु जो अपनी वृत्ति में पूर्ण दृढ़ता रखते हुए मधुकरी भिक्षा वृत्ति से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं, जब वे गृह में पधार जाएँ तब आनन्द पूर्वक प्रसन्न चित्त होकर उन की वृत्ति के अनुसार शुद्ध और निर्दोष पदार्थों की भिक्षा देकर लाभ उठाना चाहिए कारणकि-सुपात्र दान का महाफल इस लोक और परलोक दोनों में प्राप्त होता है। इस लिये सुपात्र दान कर के चित्त परम प्रसन्न करना चाहिए। जो स्वधर्मी भाई साधु मुनिराजों के दर्शनों के वास्ते आते हैं, वे भी उक्त व्रत मे ही गर्भित किये जाते हैं। अतः उन की भी यथायोग्य प्रतिपत्ति करने से अतिथि संविभाग की ही आराधना होती है। साथ ही इस बात का भी ज्ञान रहे कि-जो द्रव्य न्यायपूर्वक उत्पादन किया गया है उसी को विद्वान् वर्ग ने अतिथि-संविभाग व्रत के उपयोगी प्रतिपादन किया है। सारांश केवल इतना ही है कि-चतुर्विध संघ की यथायोग्य प्रतिपत्ति करनी श्रावक वर्ग का मुख्य कर्तव्य है। सो जब मुनि महाराज निज गृह मे भिक्षा के लिये पधार जाएँ तब शुद्ध चित्त से उन की यथायोग्य आहारादि द्वारा सेवा करनी चाहिए।

तयाणन्तरं चणं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-सचित्तनिक्खेवणया सचित्तपिहणिया कालाइक्कमे परववदे से मच्छरिया ॥

उपासकदशाङ्गसूत्र अ० ॥१॥

भावार्थ-एकादशवें व्रत के पश्चात् बारहवें अतिथिसंविभाग व्रत के भी पांच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु आसेवन न करने चाहिएं। जैसेकि-

१ सचित्तनिक्षेपण अतिचार-साधु को न देने की बुद्धि से निर्दोष पदार्थों को सचित्त पदर्थों पर रखदेना अर्थात् जल पर वा अन्न पर तथा वनस्पति आदि पर निर्दोष पदार्थ रख दे, ताकि साधु अपनी वृत्ति के विप-रीत होने से उस पदार्थ को न ले सके।

मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि २ कया णं अहं अपच्छिम-मारणंतिय संलेहणा झूसणा झूसिते भत्तपाणपडियातिक्खते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरस्सामि ३ एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे जागरेमाणे समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ॥

ठाणांगसूत्रस्थान ३ उद्देश ४ सू. ॥ २१० ॥

भावार्थ—तीन प्रकार की शुभ भावनाओ से श्रावक कर्मो की परम निर्जरा और संसार का अन्त कर देता है, परन्तु वे मन, वचन और काय द्वारा होनी चाहिएं। क्योंकि-अन्त.करण की शुभ भावनाएँ कर्मो की प्रकृतियो की जड़ को निर्मूल करने में सामर्थ्य रखती हैं, जिस कारण आत्मा विकास मार्ग मे आजाता है। जैसेकि—

श्रमणोपासक सदैव काल अपने अन्तःकरण मे इस बात की भावना उत्पादन करता रहे कि-कब मैं अल्प वा बहुत परिग्रह का परित्याग (दान) करूँगा। क्योंकि —गृहस्थो का मुख्य धर्म दान करना ही है। धार्मिक क्रियाओं में धन का सदुपयोग करना उन का मुख्य कर्तव्य है।

२ कब मैं संसार पक्ष को छोड़कर अर्थात् गृहस्थावास को छोड़कर साधुवृत्ति धारण करूँगा। क्योंकि-संसार में शॉति का मार्ग प्राप्त करना सहज काम नहीं है। मुनिवृत्ति में शॉति की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। अतः मुनिवृत्ति धारण करने के भाव सदैव काल रहने चाहिएं। यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि—जब प्राणी मात्र से वैर जाता रहा तो फिर शांति की प्राप्ति सहज में ही उपलब्ध होजाती है।

३ कब मैं शुद्ध अन्तःकरण के साथ सब जीवो से मैत्रीभाव धारण करके भत्त पानी को छोड़ कर पादोपगमन अनशनव्रत को धारण कर काल की इच्छा न करता हुआ विचरूंगा अर्थात् शुद्ध भावों से समाधि पूर्वक पादोपगमन अनशन व्रत धारण करूंगा। यद्यपि यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि—मृत्यु अवश्यमेव होनी है परन्तु जो पादोपगमन के साथ समाधियुक्त मृत्यु है वह संसार समुद्र से जीवो को पार कर देती है। अतएव जब मृत्यु का समय निकट आ जावे तब सब जीवों से वैरभाव छोड़कर अपने पूर्वकृत पापो का पश्चात्ताप करते हुए गुरु के पास शुद्ध आलोचना करके फिर यथा-शक्ति प्रमाण अनशन व्रत धारण कर लेना चाहिए।

इस अनशन व्रत के शास्त्रकर्त्ता ने पांच अतिचार वर्णन किये हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए जैसे कि—

तयाणन्तरं चणं अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा राहणाए पंच

मानता है; परन्तु पर्यायार्थिक नय के मत से प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्त्तमान की पर्याय क्षणभंगुर में रखता है । क्योंकि—"सत् द्रव्यलक्षणम्" द्रव्य का लक्षण सत् प्रतिपादन किया गया है, किन्तु "उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्त सत्" जो उत्पन्न व्यय और ध्रौव्य इन तीनों दशाओं से युक्त हो उसी की द्रव्य संज्ञा है। जैसे कि—मृत्ति का (मिट्टी) का पिंड कभी तो घटाकार होजाता है, कभी ईंटाकार और कभी अन्य रूप में परिणत होजाता है। उसके आकारो में तो परिवर्त्तन होता ही रहता है, परन्तु यदि निश्चय नय के मत के आश्रित होकर विचार किया जाय तब मृत्तिका द्रव्य ध्रौव्य भाव मे निश्चित होगा । क्योंकि—चाहे उस द्रव्य मे किसी पदार्थ की भी निष्पत्ति होजाए परन्तु प्रत्येक पर्याय मे मृत्तिका द्रव्य सद्रूप से विद्यमान रहता है । ठीक इसी प्रकार जैनमत भी प्रत्येक द्रव्य की यही दशा वर्णन करता है। द्रव्यों के समूह का नाम ही जगत् वा लोक है। अतएव यह स्वतः ही सिद्ध होजाता है कि—जब द्रव्य अनादि अनन्त है तो भला फिर जगत् सादि सान्त कैसे सिद्ध होगा? कदापि नहीं।

इसलिये द्रव्यार्थिक नय के मत से यह जगत् अनादि अनन्त है। परन्तु किसी पर्याय के आश्रित होकर उस क्षणस्थायी पर्याय के अवलम्बन से उस द्रव्य को क्षणविनश्वर कह सकते है जैसे-मनुष्य की पर्याय को लेकर मनुष्य की अस्थिरता का प्रतिपादन करना। क्योंकि—मनुष्य पर्याय की अस्थिरता का वर्णन किया जा सकता है, नतु जीव की अस्थिरता वा जीव की अनित्यता का।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि—इस जगत् में मूल तत्त्व दो ही हैं, एक जीव और दूसरा जड़। सो दोनों के विस्तार का नाम जगत् है । दोनों द्रव्यो का जो अनादि स्वभाव (धर्म) है उसी को अस्तिकाय धर्म कहते हैं।

जैनमत में छः द्रव्यात्मक जगत् माना गया है, जैसे कि—धर्म द्रव्य १ अधर्मद्रव्य २ आकाश द्रव्य ३ कालद्रव्य ४ पुद्गलद्रव्य ५ और जीव द्रव्य ६ इन छः द्रव्यों में केवल एक द्रव्य जो काल संज्ञक है, उसको अप्रदेशी द्रव्य माना गया है, शेष पांच द्रव्य सप्रदेशी कथन किये गए है। क्योंकि—काल द्रव्य के प्रदेश नही होते हैं । केवल किसी अपेक्षा पूर्वक उसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान यह तीन विभाग हो जाते है। अपितु जो धर्मादि द्रव्य है वे सप्रदेशी होने से उनकी "पंचास्तिकाय" संज्ञा कथन की गई है। इन ६ द्रव्यो के लक्षण शास्त्रकार ने निम्न प्रकार से कथन किये है—जैसे कि—

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥

उत्तराध्ययन सूत्र २८ गा० ६।

जाय तब एक पक्ष नित्य अवश्यमेव सिद्ध हो जायगा। किन्तु इस प्रकार देखा नहीं जाता। अतएव द्रव्य को गुण पर्याय युक्त मानना ही युक्तियुक्त है। जैसे द्रव्य पुद्गल है उस के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण हैं। नाना प्रकार की आकृतियां तथा नव पुरातनादि व्यवस्थाएँ उस की पर्याय होती हैं। इस लिये द्रव्य उक्त गुण युक्त मानना युक्ति-संगत है। यद्यपि द्रव्य का लक्षण सत् प्रतिपादन किया गया है, तथापि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" उत्पन्न व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला ही द्रव्य सत् माना गया है। जिस प्रकार एक सुवर्ण द्रव्य नाना प्रकार के आभूषणों की आकृतियां धारण करता है और फिर वे आकृतियां उत्पाद व्यय युक्त होने पर भी सुवर्ण द्रव्य को ध्रौव्यता से धारण करती हैं। सो इसी का नाम द्रव्य है।

यदि ऐसे कहा जाय कि-एक द्रव्य उत्पाद और व्यय यह दोनो विरोधी गुण किस प्रकार धारण कर सकता है? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—पर्याय क्षण विनश्वर माना गया है। पूर्व क्षण से उत्तर क्षण विलक्षणता सिद्ध करता है। जिस प्रकार कंकण से मुद्रिका की आकृति मे सुवर्ण चला गया है, परन्तु सुवर्ण दोनों रूपों में विद्यमान रहता है। हाँ पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय की आकृति को देख नही सकता है। क्योंकि—जिस प्रकार अंधकार और प्रकाश एक समय एकत्व में नहीं रह सकते हैं उसी प्रकार पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय भी एक समय इकट्ठे नही हो सकते हैं।

जैसे युवावस्था वृद्धावस्था की आकृति को नहीं देख सकती, उसी प्रकार पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का दर्शन नहीं कर सकती; परन्तु शरीर दोनो अवस्थाओ को धारण करता है, उसी प्रकार द्रव्य उत्पाद और व्यय दोनों पर्यायों के धारण करने वाला होता है।

जिस प्रकार हम रात्रि और दिवस दोनो का भली भांति अवलोकन करते हुए धारण करते हैं, परन्तु रात्रि और दिवस वे दोनो युगपत् (इकट्ठे हुए) नहीं देखे जाते, ठीक उसी प्रकार द्रव्य दोनों पर्यायों को धारण करता हुआ अपनी सत्ता सिद्ध करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—द्रव्यो की संख्या किननी मानी गई है? इसके उत्तर में सूत्रकार वर्णन करते हैं। जैसेकि—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो।
एस लोगोत्ति पएणत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० ॥७॥

वृत्ति—धर्म्म इति—धर्मास्तिकायः १ अधर्म्म इति—अधर्मास्तिकायः २ आकाशमिति आकाशास्तिकायः ३ काल- समयादिरूप.—४ पुग्गलत्ति—पुद्गलास्तिकाय ५ जन्तव इति जीवा ६

इस प्रकार लोक में अपनी सत्ता रखते हैं जैसेकि–धर्मद्रव्य १ अधर्मद्रव्य २ और आकाश द्रव्य ३ ये तीनों द्रव्य असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोक में एक एक संख्या के धारण करने वाले प्रतिपादन किये गए हैं। यद्यपि आकाश द्रव्य भी अनंत है परन्तु लोक में वह असंख्यात प्रदेशों को धारण किये हुए ही रहता है। क्योंकि—लोक असंख्यात योजनों के आयाम और विष्कंभ के धारण करने वाला है। अतएव शास्त्रकार ने धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीनों द्रव्य लोक में एक २ ही प्रतिपादन किये हैं। यद्यपि धर्मद्रव्य के स्कन्ध, देश और प्रदेश रूप तीन भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि भेद केवल जिज्ञासुओ के बोध के लिये ही दिखलाए गए हैं, किन्तु वास्तव मे धर्मद्रव्य अविछिन्न भाव से एक रूप होकर ही लोक में स्थित है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य और आकाश-द्रव्य के विषय में जानना चाहिए। जिस प्रकार धर्मद्रव्य अविछिन्न भाव से लोक में स्थित है, ठीक उसी प्रकार अधर्म और आकाश द्रव्य भी लोक मे स्थित हैं। किन्तु कालद्रव्य १, पुद्गलद्रव्य २ और जीवद्रव्य ३ ये तीनों लोक में अनंत प्रतिपादन किये गए हैं। क्योंकि–तीनों काल की अपेक्षा काल-द्रव्य अनंत प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि–जब द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से संसार अनादि अनंत है तब भूतकाल वा भविष्यत् काल भी अनंत सिद्ध हो जाता है। अतएव कालद्रव्य तीनों काल की अपेक्षा से अनंत प्रतिपादन किया गया है। ठीक उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी अनंत कथन किया गया है। क्योंकि–एक परमाणु पुद्गल से लेकर अनंत प्रदेशी स्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्रव्य विद्यमान है। वह अनंत वर्गणाओं के समूह का उत्पादक भी है। इस लिये यह द्रव्य भी लोक में अपने द्रव्य की अनंत संख्या रखता है। जिस प्रकार पुद्गल-द्रव्य अनंत है, ठीक उसी प्रकार जीव द्रव्य भी अनंत है अर्थात् लोक में अनंत आत्माएँ निवास करती हैं।

कतिपय वादियों ने एक आत्मा ही स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य यह है कि—एक आत्मा का ही प्रतिबिम्ब रूप अनेक आत्माएँ हैं। वास्तव में शुद्ध आत्मद्रव्य एक ही है। तथा किसी वादी ने आत्मद्रव्य भिन्न २ माना है। एक आत्मा के मानने वालो का सिद्धान्त युक्तियो से बाध्य कर दिया है। परन्तु जैन-सिद्धान्तकारों ने आत्मद्रव्य द्रव्यरूप से अनंत स्वीकार किया है परन्तु ज्ञानात्मा के मत से आत्मद्रव्य एक भी है। जिस प्रकार सहस्र दीपक द्रव्यरूप से सहस्र रूप ही है परन्तु सहस्र दीपको का प्रकाश गुण एक ही है ठीक उसी प्रकार आत्मद्रव्य अनंत होने पर भी ज्ञानदृष्टि और गुण के सम होने पर एक ही है। परन्तु व्यवहार पक्ष में आत्मद्रव्य अनंत है। अतएव काल-द्रव्य पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य अनंत प्रतिपादन किये गए हैं।

फिर सर्वद्रव्यों का भाजनरूप आकाशद्रव्य जो प्रतिपादन किया गया है, उस का अवकाशरूप लक्षण कथन किया है. क्योंकि—आकाश का लक्षण वास्तव में अवकाशरूप ही है जिस प्रकार दुग्ध से भरे हुए कलश में शर्करादि पदार्थ समयतार हो जाते है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ को अवकाश देने के लिये आकाशद्रव्य भाजनरूप माना गया है। तथा जिस प्रकार सहस्र दीपकों का प्रकाश परस्पर सम्मिलित होकर ठहर जाता है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य आकाश मे सम्मिलित होकर ठहरे हुए हैं। अतएव आकाश का अवकाशरूप लक्षण ही मानना युक्तियुक्त है। यद्यपि कतिपय वादियों ने "शब्दगुणम्माकाशम्" इस प्रकार से पाठ माना है, परन्तु उन का यह लक्षण युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि—यह बात स्वतः सिद्ध है कि—गुणी प्रत्यक्ष और गुण परोक्ष होता है परन्तु इस स्थान पर शब्दरूप गुण तो इन्द्रिय-ग्राह्य है और आकाश इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ नहीं माना गया है तथा च-

काणाद शब्दस्तव चेन्नभोगुणोऽतीन्द्रियः स्यात् परिमाणवत्कथम् ?
गुणोऽपि चेत्तर्हि तदाश्रये च द्रव्येऽगृहीते किमु गृह्यतेऽसौ ? ॥

युक्तिप्रकाश श्लोक॥ २२ ॥

टीका—अथ शब्दस्य गुणत्वं निषेधयति। काणाद-हे काणाद! तव मते चे-न्नभोगुणः शब्दोऽस्ति तदाऽतीन्द्रिय इन्द्रियाऽग्राह्यः कथं न स्यात् परिमाणवत् ? अधिकाराद् गगनपरिमाणमिव यथा गगनपरिमाणं तद्गुणत्वेनाऽतीन्द्रियं तथा शब्दो भवेदिति तस्मात् न गगनगुणः शब्दः। ननु शब्दस्य गगनगुणत्वं माऽस्तु तथाऽपि कस्यचिद् द्रव्यान्तरस्य गुणोऽयं भविष्यतीति वैशेषिककदाशां निरा-करोति चेत् शब्दो गुणस्तर्हि तदाश्रये द्रव्येऽगृहीतेऽसौ कथं गृह्यते ? तस्मान्नायं गुणोऽपीति वृत्तार्थः-

भावार्थ—इस कारिका का मन्तव्य यह है कि-जब आकाश इन्द्रिय अग्राह्य पदार्थ है तो भला उस का गुण जो शब्द माना गया है वह इन्द्रिय अग्राह्य कैसे न होगा ? अपितु अवश्यमेव होना चाहिए। परन्तु शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य माना गया है अत एव शब्द आकाश का गुण युक्तिपूर्वक सिद्ध नहीं होता यदि ऐसे कहा जाय कि-आकाश में जो द्रव्य स्थित हैं उन द्रव्यो मे जब परस्पर संघर्षण होता है तब शब्द उत्पन्न होजाता है, अतएव आकाशस्थ द्रव्य होने से वह शब्द आकाश का ही मानना चाहिए। इस शंका का यह समा-धान किया जाता है कि-जब द्रव्यो के संघर्षण से शब्द उत्पत्ति मान ली जाए तब आकाश का गुण शब्द तो सर्वथा निर्मूल सिद्ध होगया। क्योंकि-आकाश-एक अरूपी पदार्थ संघर्ष करता ही नहीं है। अरूपी पदार्थ एक रसमय होता है। यदि आकाश में स्थित परस्पर द्रव्य संघर्षण करते है उन के कारण से शब्द

उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि पुद्गलद्रव्य के कतिपय स्कन्ध क्रिया करते हुए दृष्टिगोचर होते है, परन्तु उन क्रियाओं मे विचार-शक्ति तथा सुख दुःखों का अनुभव करना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अनेक शाकों के भाजनो में दर्वी (कडछी) भ्रमण तो करती है परन्तु उन पदार्थों के रस के ज्ञान से वह वंचित ही रहती है, कारण कि-वह स्वयं जड़ है। इसी प्रकार घड़ी जनता को प्रत्येक समय का विभाग करके तो दिखलाती है, परन्तु स्वयं उस ज्ञान से वंचित होती है। अतएव जीव की सिद्धि जो सूत्रकार ने चार लक्षणो द्वारा प्रतिपादन की है वह युक्तियुक्त होने से सर्वथा उपादेय है। जैसेकि-जिस को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान है, जिस की श्रद्धा दृढतर है, फिर जो सुख वा दुःख का अनुभव करता दृष्टिगोचर होता है, उसी की जीव संज्ञा है। इस से निष्कर्ष यह निकला कि-उपयोगलक्षण युक्त जीव प्रतिपादित है।

अब सूत्रकार जीवद्रव्य के लक्षणान्तरविषय मे कहते है।

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एमं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

उत्तराध्ययनसूत्र अ २८ गा. ॥ ३१ ॥

वृत्ति—ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं च पुनर्दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं च पुनश्चारित्रं क्रिया चेष्टादिकं तथा तपो द्वादशविधं तथा वीर्यं वीर्यान्तराय क्षयोपशमात् उत्पन्नं सामर्थ्यं पुनरुपयोगो ज्ञानादिषु एकाग्रत्व एतत् सर्वं जीवस्य लक्षणम् ॥

भावार्थ—जिस प्रकार १० वीं गाथा मे जीव द्रव्य के लक्षण प्रतिपादन किये गए है, उसी प्रकार ११ वीं गाथा मे भी जीव द्रव्य के ही लक्षण प्रतिपादित हैं। जैसेकि—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाय उस का नाम ज्ञान है तथा जिसके द्वारा पदार्थों के स्वरूप को सम्यग्तया देखा जाय उस का नाम दर्शन है। सो जीव ज्ञान, दर्शन तथा काय की चेष्टादि की जो संज्ञा चारित्र है उस से तथा द्वादशविध तप से युक्त है। इतना ही नहीं किन्तु वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम भाव से जो आत्मिक सामर्थ्य उत्पन्न हुआ है उस वीर्य से युक्त तथा ज्ञानादि मे एकाग्र अर्थात् ज्ञानादि में उपयोग युक्त है। ये सब जीव द्रव्य के लक्षण है। अर्थात् इन लक्षणों द्वारा ही जीव द्रव्य की सिद्धि होती है क्योंकि-लक्षणों द्वारा ही पदार्थों का ठीक २ बोध हो सकता है। परन्तु इस बात का अवश्य ध्यान कर लेना चाहिए कि—एक आत्मभूत लक्षण होता है दूसरा अनात्मभूत लक्षण होता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है, ठीक उसी प्रकार दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। सो ज्ञान, दर्शन, वीर्य और उपयोग इत्यादि यह सब आत्मभूत जीव द्रव्य के लक्षण प्रतिपादन किये गए हैं।

उष्ण यह सब पुद्गलास्तिकाय के लक्षण जानने चाहिएं।

सारॉश इस का इतना ही है कि—उक्त लक्षणों द्वारा पुद्गल द्रव्य की सिद्धि की जाती है।

यद्यपि कतिपय वादियों ने पुद्गल द्रव्य के लक्षणों को किसी अन्य द्रव्य के लक्षण वर्णन कर दिये हैं, परन्तु यथार्थ में वह लक्षण न होने से युक्ति को सहन नहीं कर सकते। जैसे कि—तमस् को कतिपय वादियों ने अभाव पदार्थ स्वीकार कर लिया है, किन्तु वह युक्तियुक्त कथन नही है। अतएव पुद्गलद्रव्य के ही उक्त लक्षण स्वीकार करने युक्तियुक्त है।

यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सर्व पौद्गलिक है। क्योंकि—अरूपी पदार्थों को तो छद्मस्थ आत्मा चक्षुओं द्वारा देख ही नहीं सकता। अतएव इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ रूपवान् हैं। रूपवान् ही होने से वे पौद्गलिक हैं।

इस प्रकार षट् द्रव्यों के लक्षण वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार पर्याय विषय कहते है। जैसेकि—

एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगाय विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं॥

उत्तराध्ययनसूत्र अ. २८ गा॥ १३॥

वृत्ति—एतत्पर्यायाणां लक्षणं एतत् किम्-एकत्वं भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यत् एकोऽयं इति बुद्धया घटोयं इति प्रतीतिहेतुः च पुनः पृथक्त्वं अयं अस्मात् पृथक् घटः पटाद् भिन्नः पटो घटाद्भिन्नः इति प्रतीतिहेतुः, संख्या एको द्वौ बहव इत्यादि प्रतीतिहेतुः च पुनः संस्थानं एव वस्तूनां संस्थानं आकारश्चतुरस्रवर्तुलत्रिस्रादि प्रतीतिहेतुः, च पुनः संयोगा अयं अंगुल्याः संयोग इत्यादि व्युपदेशहेतवो, विभागा अयं अतो विभक्त इति बुद्धिहेतवः, एतत् पर्यायाणां लक्षणं ज्ञेयं, संयोगा विभागा बहुवचनात् नवपुराणत्वाद्यवस्था ज्ञेया. लक्षणत्वं साधारणरूपं गुणानां लक्षणं रूपादि प्रतीतत्वान्नोक्तम्॥

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि—द्रव्य गुण और पर्याय युक्त होता है। अत. इस गाथा में पर्याय का लक्षण प्रतिपादन किया गया है। अनंत परमाणुओं का समूह जब एक घटादि पदार्थों के रूप मे आजाता है तब व्यवहारबुद्धि से कहा जाता है कि—यह एक घट है। यद्यपि वह घट अनंत परमाणुओं का समूह रूप है तथापि भिन्न २ परमाणुओ के होने पर भी व्यवहारबुद्धि मे घट एक पदार्थ माना गया है। इसी प्रकार यह इस से पृथक् है अर्थात् यह घट से पट पृथक् है वा यह वस्तु अमुक वस्तु से पृथक् है इस प्रकार की जो प्रतीति है उसी का नाम पृथक्त्व है क्योंकि—पुद्गल द्रव्य एक होने पर भी यह इस पदार्थ से भिन्न पदार्थ है इस प्रकार की जो प्रतीति होती है यही पर्याय का लक्षण है।

भेद उक्त विषय में संक्षेप रूप से समवतार होजाते हैं जैसेकि—

१ द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है १, क्षेत्र से लोकपरिमाण है २, काल से अनादि अनन्त है ३, भाव से अरूपी है ४, गुण से गति इस का लक्षण है ५। दृष्टान्त जैसे पानी में मत्स्य।

२ द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है १, क्षेत्र से लोकपरिमाण २, काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से स्थिति इस का लक्षण है ५। दृष्टांत जैसे पथिक को वृक्ष का आधार।

३ द्रव्य से आकाशास्तिकाय एक १, क्षेत्र से लोकालोक परिमाण २, काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से आकाश का अवकाश देने का स्वभाव ५। दृष्टान्त जैसे दुग्ध में शर्करा (मिश्री)।

४ द्रव्य से कालद्रव्य अनंत १, क्षेत्र से अढ़ाई द्वीप परिमाण २, काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से वर्त्तनालक्षण ५। दृष्टान्त-जैसे नूतन पदार्थ को कालद्रव्य पुराना करता है।

५ द्रव्य से जीवद्रव्य जीवास्तिकाय अनन्त १, क्षेत्र से चतुर्दशरज्जु परिमाण २ काल से अनादि अनन्त ३, भाव से अरूपी ४, गुण से चेतनालक्षण।

द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनंत १, क्षेत्र से लोक परिमाण२, काल से अनादि अनंत ३, भाव से रूपी ४, गुण से सड़ना, पड़ना, मिलना, गलना, विध्वंसन होना ही इस का लक्षण है ५।

इस प्रकार उक्त द्रव्यों के स्वरूप को जाना जाता है। क्योंकि-प्रत्येक द्रव्य अपनी २, पर्यायों का कर्त्ता है।

६ अब इस स्थान पर आगमसार ग्रंथ के अनुसार षट् द्रव्यो के विषय में कहा जाता है। जैसेकि-षट् अनादि हैं। उनमें पांच अजीव और चेतनालक्षण वाला जीव है। परन्तु षट् द्रव्यों के गुण निम्न प्रकार से है जैसेकि—धर्मास्तिकाय के चार गुण हैं, यथा—अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और गतिलक्षण ४। अधर्मास्तिकाय के भी चार गुण हैं-जैसेकि-अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और स्थितिलक्षण ४। आकाशास्तिकाय के चार गुण-जैसेकि-अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और अवगाहनगुण ४। कालद्रव्य के चार गुण-अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और नव पुराणादि वर्त्तनालक्षण ४। पुद्गल द्रव्य के चार भेद रूपी १, अचेतन २, सक्रिय ३, मिलना और विछुड़ना स्वभाव ४। जीव द्रव्य के ४ गुण अनंतज्ञान १, अनंतदर्शन २, अनंतचारित्र ३, और अनंतवीर्य ४। ये छः द्रव्यों के गुण नित्य और ध्रुव हैं।

किन्तु षट्द्रव्यों के पर्याय निम्न प्रकार से है, जैसेकि—धर्मास्तिकाय के चार पर्याय हैं—स्कन्ध १, देश २, प्रदेश ३, और अगुरु लघु ४। अधर्मा-

७ निश्चय नय के मत से षट् ही द्रव्य सक्रिय हैं, किन्तु व्यवहार नय के मत से जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय हैं, शेष चार द्रव्य अक्रिय हैं।

८ निश्चय नय के मत से षट् द्रव्य नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं, किन्तु व्यवहारनय के मत से जीव और पुद्गल की अपेक्षा से ये दोनों द्रव्य, अनित्य हैं, शेष चार द्रव्य नित्य हैं।

९ छः ही द्रव्यों में केवल एक जीव द्रव्य कारण है, शेष पांच द्रव्य अकारण हैं।

१० निश्चय नय के मत से छः ही द्रव्य कर्त्ता हैं किन्तु व्यवहार नय के मत से केवल एक जीव द्रव्य कर्त्ता है, शेष पांच द्रव्य अकर्त्ता हैं।

११ छः ही द्रव्यों में केवल एक आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है, शेष पांच द्रव्य लोक मात्र व्यापी हैं।

१२ एक क्षेत्र में षट्द्रव्य एकत्व होकर ठहरे हुए हैं, किन्तु गुण सब का पृथक् २ है अर्थात् गुण का परस्पर संक्रमण नहीं होसकता।

अब एक २ में आठ २ पक्ष कहते हैं। जैसेकि—

नित्य १, अनित्य २, एक ३, अनेक ४, सत्य ५, असत्य ६, वक्तव्य ७, और अवक्तव्य ८।

अब नित्य अनित्य पक्ष विषय कहते हैं।

धर्मास्तिकाय के चार गुण नित्य हैं। पर्याय में धर्मास्तिकाय-स्कन्ध नित्य है। देश, प्रदेश, अगुरुलघु अनित्य हैं. इस प्रकार कहना चाहिए। अधर्मास्तिकाय के चार गुण-स्कंध लोक प्रमाण नित्य है, देश प्रदेश अगुरुलघु अनित्य हैं। आकाशास्तिकाय के चार गुण-स्कन्ध लोकालोक प्रमाण नित्य हैं। देश, प्रदेश अगुरुलघु अनित्य हैं। कालद्रव्य के चार गुण नित्य हैं चार पर्याय अनित्य हैं। पुद्गलद्रव्य के चार गुण नित्य हैं, चार पर्याय अनित्य हैं, किन्तु जीव द्रव्य के चार गुण और पर्याय नित्य हैं किन्तु अगुरुलघु अनित्य हैं।

अब एक और अनेक पक्ष विस्तार से कहा जाता है जैसेकि—

धर्म १ और अधर्म २ द्रव्य इन का स्कन्ध लोक प्रमाण एक है, किन्तु गुण, पर्याय और प्रदेश अनेक हैं। जैसेकि—गुण और पर्याय तो अनंत हैं, किन्तु प्रदेश असंख्यात हैं। आकाश द्रव्य का स्कन्ध लोकालोक प्रमाण एक है, गुण पर्याय और प्रदेश अनेक हैं। जैसेकि—गुण और पर्याय तो अनंत होते ही हैं किन्तु आकाशद्रव्य लोकालोक प्रमाण होने से उस के प्रदेश भी अनंत हैं। काल द्रव्य का वर्त्तनारूप गुण तो एक है, किन्तु गुण, पर्याय और समय अनेक हैं। जैसेकि—गुण अनंत और पर्याय अनन्त तथा समय अनंत। यथा—भूत काल के अनंत समय व्यतीत हो चुके और अनागत काल के अनंत समय व्यतीत

गुण पर्याय सदैव काल विद्यमान रहता है। जैसेकि-धर्म द्रव्य में स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव विद्यमान तो रहता है, किन्तु शेष पांच द्रव्यों का गुण पर्याय उस में नहीं रह सकता। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य में स्वद्रव्यादि चारों भाव विद्यमान रहते हैं, किन्तु शेष पांच द्रव्यों के गुण पर्याय नहीं रह सकते। जिस प्रकार इन का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार आकाश द्रव्य में द्रव्यादि भाव रहते हैं; किन्तु शेष पांच द्रव्यों के गुण पर्याय नही रहते काल के भाव काल में रहते हैं पुद्गल के.भाव पुद्गल में रहते हैं। जीव के स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव जीव में रहते है शेष पांच द्रव्यों के स्वभाव जीव द्रव्य में नहीं रह सकते। इसी प्रकार षद् द्रव्य स्वगुण की अपेक्षा से सत् रूप प्रतिपादन किये गए हैं।

अब वक्तव्य और अवक्तव्य पक्ष कहते है।

षद् द्रव्य में अनंत गुण पर्याय वक्तव्य है अर्थात् वचन से कहा जासकता है और अनंत ही गुण पर्याय अवक्तव्य रूप है। जो वचन द्वारा नहीं कहा जासकता, किन्तु श्री केवली भगवान् ने सर्व भाव देखे हुए है, परन्तु दृष्ट भावो से भी वे अनंतवे भाग मात्र कह सकते हैं। इसी लिये वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व ये दोनों भाव षद् द्रव्य में पड़ते है। किन्तु जब नित्य और अनित्य पक्ष माना जाता है तब इस पक्ष के मान ने से चतुर्भंग उत्पन्न होजाते है। जैसेकि–

१ अनादि अनंत—जिस की न तो आदि है नाँही अंत है।

२ अनादि सान्त—आदि तो नहीं है किन्तु अन्त दीखता है। (मानाजा सकता है)

३ सादि अनंत—जिसकी आदि तो मानी जाती है परन्तु अन्त नहीं माना जासकता।

४ सादिसान्त—जिस की आदि अन्त दोनों माने जा सकें, उसी का नाम सादि है।

परन्तु ये चारों भंग उदाहरणो द्वारा इस प्रकार प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि—जीव में ज्ञानादि गुण अनादि अनंत है १, भव्य आत्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त है २, जिस समय जीव कर्म क्षय करके मोक्षपद प्राप्त करता है, तब उसमें साद अनंत भंग माना जाता है। क्योंकि-कर्मक्षय करने के समय की आदि तो होगई, परन्तु मुक्ति पुनरावृति वाली नहीं है। अतएव सादि अनंत भंग सिद्ध होगया। चारों गतियों मे जो जीव पुनः २ जन्म मरण कर रहा है, उस की अपेक्षा संसारी जीवों मे सादि सान्त भंग सिद्ध हो जाता है जैसेकि-मनुष्य मरकर देवयोनि में चलागया तब देवयोनि की अपेक्षा मनुष्य भाव सादिसान्त पद वाला बनगया इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय जानना चाहिए।

गुण अगुरुलघु अनादि अनंत है। अतीतकाल अनादि सान्त और वर्त्तमान काल सादि सान्त है, किन्तु अनागत काल सादि अनंत है। पुद्गल द्रव्य में द्रव्यत्व भाव से गलन मिलन धर्म अनादि अनंत है। क्षेत्र से परमाणु पुद्गल सादि-सान्त है। काल से अगुरुलघु गुण अनादि अनंत है, किन्तु पुद्गल द्रव्य मे उत्पाद और व्यय धर्म सादि सान्त है। स्वभाव गुण ४ अनादि अनन्त है। स्कन्ध देश प्रदेश अवगाहना मान सादि सान्त है। किन्तु वर्णादि पर्याय ४ सादि सान्त प्रतिपादन की गई हैं। इस प्रकार द्रव्यादि पदार्थों के चार भंग वर्णन किये गए है।

अब षट् द्रव्य सम्बन्धी चार भंग दिखलाये जाते हैं।

जब हम आकाश द्रव्य पर विचार करते है तब यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि—जो अलोकाकाश है उसमें आकाश द्रव्य के विना अन्य कोई और द्रव्य नहीं है, किन्तु जो लोक का आकाश है उसमें षट् द्रव्य ही सदैव विद्यमान रहते है । वे कदापि आकाश द्रव्य से पृथक् नहीं होते । अतः वे अनादि अनंत है। आकाश क्षेत्र में जीवद्रव्य अनादि अनंत है, परन्तु संसारी जीव कर्म सहित लोक के आकाश-प्रदेशो के साथ उन का जो सम्बन्ध है वह सादि सान्त है।

जो सिद्ध आत्माओ के साथ आकाश प्रदेशो का सम्बन्ध हो रहा है वह भी सादि अनंत है, अपितु लोक के आकाश के साथ जो पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध है वह अनादि अनंत है, किन्तु जो आकाश प्रदेश के साथ परमाणु पुद्गल का सम्बन्ध है, वह सादि सान्त है।

इसी प्रकार धर्मास्तिकाय का सम्बन्ध सर्व जीवो के साथ जानना चाहिए। अपितु अभव्य आत्माओं के साथ पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। क्योंकि—अभव्यात्मा कदापि कर्मक्षय नहीं कर सकता है अपितु भव्य आत्मा कर्म क्षय कर जब मोक्षपद प्राप्त करेगा तब उसके साथ कर्म्मो का सम्बन्ध अनादि सान्त कहा जाता है। तथा निश्चय नय के मत से षट् द्रव्य स्वभाव परिणाम से परिणत है। इस करके ये परिणामी है अतः वे परिणाम सदा नित्य हैं। इस लिये षट् द्रव्य अनादि अनंत हैं। अपरं च जीव द्रव्य और पुद्गलद्रव्य का जो मिलने का परस्पर सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध परिणामी है। सो वह परिणामिक भाव अभव्य जीव का अनादि अनंत है । भव्य जीव का अनादि सान्त है। किन्तु पुद्गलद्रव्य की परिणामिक सत्ता अनादि अनंत है। अपितु जो परस्पर मिलना और बिछुड़ना भाव है वह सादि सान्त है। अतएव जब जीव और पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध है तब ही जीव में सक्रियता होती है, परन्तु जिस समय जीव कर्मों से रहित हो जाता है, तब वह अक्रिय हो जाता है। परन्तु पुद्गलद्रव्य सदैव काल सक्रियत्व भाव में रहता है।

ये पांच पर्याय सर्व द्रव्य में होते हैं किन्तु ६ विभावपर्याय जीव और पुद्गल में ही होती है-जैसे विभावपर्याय के वशीभूत होकर जीव चारों गति में नाना प्रकार के रूप धारण करता है और पुद्गल द्रव्य में विभाव पर्याय स्कन्ध रूप होती है। अपरंच षट्पर्याय निम्न प्रकार से और भी कथन किये गए हैं। जैसे कि—

१ अनादिनित्य पर्याय—जैसे मेरु पर्वत प्रमुख।

२ सादिनित्य पर्याय—सिद्धभाव।

३ अनित्य पर्याय—समय २ षट् द्रव्य उत्पाद और व्यय धर्म युक्त हैं।

४ अशुद्धनित्यपर्याय—जैसे जीव के जन्म मरण।

५ उपाधिपर्याय—जैसे जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध।

६ शुद्ध पर्याय—जो द्रव्यों का मूल पर्याय है। वह सब एक समान ही होता है। इस प्रकार पर्याय का वर्णन किया गया है।

सो पंचास्तिकाय रूप धर्म में सर्व द्रव्य और गुण पर्याय का वर्णन किया गया है। साथ ही ज्ञेय (जानने योग्य) रूप पदार्थों का सविस्तर रूप वर्णन किया गया है। अतएव यह जगत् षट् द्रव्यात्मिकरूप स्वतः सिद्ध है।

दश प्रकार के धर्म का स्वरूप संक्षेप से इस स्थान पर वर्णन किया है परन्तु उक्त धर्मों का सविस्तर स्वरूप यदि अवलोकन करना हो तो जैन-आगम तथा जैन-ग्रन्थों में देखना चाहिए। वहां पर बड़ी प्रबल युक्तियो से उक्त धर्मों का स्वरूप प्रतिपादन किया है, परन्तु इस स्थान पर तो केवल दिग्दर्शन मात्र कथन किया है। आशा है भव्य जन जैन-आगमो द्वारा उक्त धर्मों का स्वरूप देख कर फिर हेय (त्यागने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों को भली भांति समझ तथा धारण कर निर्वाण पद के अधिकारी बनेंगे।

इति श्रीजैन-तत्त्वकलिकाविकासे अस्तिकाय एवं दशविधधर्मवर्णनात्मिका षष्ठी कलिका समाप्ता।

—o—

अथ सप्तमी कलिका।

पूर्व कलिकाओं में दश प्रकार के धर्म का संक्षेपता से वर्णन किया गया है। इस कलिका मे जैन-शास्त्रानुसार लोक (जगत्) के विषय मे कहा जाता है क्योंकि-बहुतसे भव्य आत्माओं को इस बात की शंका रहा करती है कि-जैन-मत वाले जगदुत्पत्ति किस प्रकार से मानते हैं? तथा कतिपय तो शास्त्रीय

क्षणविनश्वर वाद दोनों वाद ही युक्तियों के सहन करने में अशक्त हैं।

अब इसी बात को शास्त्रकार वर्णन करते हैं जैसेकि-

एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए।

सूत्रकृतागसूत्र द्वितीयश्रुतस्कन्ध अ. ५ गा. ॥ ३ ॥

दीपिका-(एएहिंति) एताभ्यां एकान्त नित्यं एकान्तमनित्यं चेति द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते। एकान्तनित्ये एकान्तानित्ये च वस्तुनि व्यवहारो व्यवस्था न घटत इत्यर्थः। तस्मादेताभ्यां स्थानाभ्यां स्वीकृताभ्यामनाचारं जानीयात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त दोनों पक्षों के एकान्त मानने से व्यवहार क्रियाओं का सर्वथा उच्छेद हो जाता है क्योंकि जब सर्व पदार्थ एकान्त नित्यरूप स्वीकार किये जायें तब जो नूतन वा पुरातन पदार्थों का पर्याय देखने में आता है वह सर्वथा उच्छेद हो जायगा। तथा किसी भी पदार्थ को व्यवहार पक्ष में उत्पाद और व्यय धर्म वाला नहीं कहा जासकेगा। जब पदार्थों का उत्पाद और व्यय धर्म सर्वथा न रहा तब पदार्थ केवल अच्युतानुत्पन्नस्थिरैक स्वभाव वाले सिद्ध हो जायेंगे। परन्तु देखने मे ऐसे आते नही हैं। अतएव एकान्त नित्य मानने पर व्यवहार पक्ष का उच्छेद होजाता है।

यदि एकान्त अनित्यता ग्रहण की जाए तब भी वह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जब पदार्थ एकान्त अनित्यता ही धारण किये हुए है, तब भविष्यत् काल के लिये जो घट, पट, धन धान्यादि का लोग संग्रह करते हैं वे अनर्थक सिद्ध होंगे। यदि पदार्थ क्षणविनश्वर धर्म वाले है तब वह किस प्रकार संगृहीत किये हुए स्थिर रह सकेगे? परन्तु व्यवहार पक्ष मे देखा जाता है कि-लोग व्यवहार पक्ष के आश्रित होकर उक्त पदार्थों का संग्रह अवश्यमेव करते है, अतएव एकान्त अनित्यता स्वीकार करने पर भी व्यवहार में विरोध आता है।

इसलिये जैन-दर्शन ने एकान्त पक्ष के मानने का निषेध किया है। परन्तु जब हम स्याद्वाद के आश्रित होकर नित्य और अनित्य पर विचार करते हैं तब दोनों पक्ष युक्तियुक्त सिद्ध हो जाते हैं जैसे कि जब हम पदार्थों के सामान्य धर्म के आश्रित होकर विचार करते है तब पदार्थ नित्यरूपत्त्व धारण करलेते है अर्थात् पदार्थों के नित्य धर्म मानने मे कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। क्योंकि सामान्य धर्म पदार्थों मे नित्य रूप से रहता है तथा जब हम पदार्थों के विशेष रूप धर्म पर विचार करते हैं तब प्रत्येक पदार्थ की अनित्यता देखी जाती है क्यो कि विशेष अंश के ग्रहण करने से

खंदयं कच्चाय० एवं वयासी—से नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगल-एणं णियंठेणं वेसालिय सावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए मागहा । किं सअंत लोए अणंते लोए एवं तं जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से नूणं खंदया । अयमट्ठे समट्ठे ? हंता अत्थि जे वियते खंदया । अयमेयारूवे अब्भात्थिए चित्तिए पात्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पाज्जित्था—किं स अंते लोए अणंते लोए ? तस्स वियणं अयमट्ठे—एवंखलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ! दव्वओणं एगे लोए स अंते ? खेत्तओणं लोए असंखेज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ आयाम विक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयण कोडा कोडीओ परिक्खेवेणं पअत्थिपुणसे अंते२ काल-ओ णं लोएण कयाविण आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्साति भविंसु य भवति य भाविस्सइ य धुवे णितिय सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णात्थिपुणसे अंते ॥३॥ भावओ णं लोए अणंता वण्ण पज्जवा गंध० रस० फास पज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गुरुयलहुय पज्जवा अणंता अगुरुयलहुय पज्जवा नत्थिपुण से अंते ४ सेतं खंदगा ! दव्वओ लोए स अंते खेत्तओ लोए स अंते कालओ लोए अणंते भावओ लोए अणंते ।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र शतक २ उद्देश ॥१॥ स्धंककचरित ।

भावार्थ—जिस समय स्कन्धक परिव्राजक श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप प्रश्नो का समाधान करने के वास्ते आए, उस समय श्रीश्र-मण भगवान् महावीर स्वामी नित्य भोजन करने वाले थे अर्थात् अनशनादि व्रतो से युक्त नही थे । अतः उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी नित्य आहार करने वालो का शरीर प्रधान जैसे शृंगारित होता है अतः शृंगारित कल्याण रूप, शिवरूप, धन्यकारी मंगलरूप शरीर की लक्ष्मी से युक्त विना अलंकारों से विभूषित लक्षण और व्यंजनों से उपेत लक्ष्मी द्वारा अतीव सौंदर्यता प्राप्त कर रहा था अर्थात् सौंदर्यता को प्राप्त हो रहा था । तदनन्तर वह कात्यायन गोत्रीय स्कन्धक श्रमण भगवान् नित्य आहार करने वालों के प्रधान यावत् अतीव उपशोभायमान शरीर को देख कर हर्षचित्त वा संतुष्ट

१ 'वियट्ट भोइत्ति' व्यावृत्ते २ सूर्ये भुङ्क्ते चयेदं शालो व्यावृत्तभोजी प्रतिदिनभोजीत्यर्थ । अभयदेवीया वृत्ति ॥

सो उक्त सूत्रपाठ के देखने से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि-काल की अपेक्षा से यह लोक उत्पत्ति और नाश से रहित है क्योंकि-प्रागभाव के मानने से प्रध्वंसाभाव अवश्यमेव माना जा सकेगा । जिसका प्राभगाव ही सिद्ध नहीं होता है उस का प्रध्वंसाभाव किस प्रकार माना जाए ? हाँ, यह बात भली भाँति मानी जासकती है कि-प्रत्येक पर्याय उत्पत्ति और विनाश धर्म वाली है किन्तु पर्यायों (दशाओं) के उत्पन्न और विनाश काल को देखकर द्रव्य पदार्थ उत्पत्ति और नाश धर्म वाला नहीं माना जा सकता । जैसे कि-जीव द्रव्य नित्य रूप से सदैव काल विद्यमान रहता है किन्तु जन्म और मरण रूप पर्यायों की अपेक्षा से एक योनि मे नित्यता नहीं रख सकता । इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में जानना चाहिए।

यदि ऐसे कहा जाय कि-सर्व पदार्थ उत्पत्ति धर्म वाले हैं तो फिर भला कर्ता के विना जगत् उत्पन्न कैसे होगया ? इस के उत्तर मे कहा जा सकता है कि-क्या प्रकृति परमात्मा और जीव पदार्थ भी कर्ता की आवश्यकता रखते हैं अर्थात् इन की भी उत्पत्ति माननी चाहिए ?

यदि ऐसे कहा जाए कि—ये तीनों पदार्थ अनादि हैं, अतः इन की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, तो इस के उत्तर मे कहा जा सकता है कि-इसी प्रकार काल से जगत् भी अनादि है, क्योंकि—जगत् भी पद्द्रव्यों का समूह रूप ही है । अपितु जो पर्याय है वह सादि सान्त है । इसलिये जगत् में नाना प्रकार की रचना दृष्टिगोचर हो रही है ।

जैन-शास्त्रों ने एक लोक के तीन विभाग कर दिए हैं, जैसे कि—ऊर्ध्व-लोक १, मध्य लोक २ और अधोलोक ३ । ऊर्ध्व लोक मे २६ देवलोक हैं, जिन का सविस्तर स्वरूप जैन सूत्रों से जानना चाहिए । वहाँ पर देवों के परम रमणीय विमान हैं ।

तिर्यक्लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, जो एक से दूसरा आयाम विष्कंभ में दुगुणा २ विस्तार वाला है । उनमे प्रायः पशु और (वानव्यन्तर) वानमंतर देवों के स्थान हैं, किन्तु तिर्यक् लोक के अढ़ाई द्वीप में प्रायः तिर्यञ्च और मनुष्यों की वस्ति है । इसी लिये इन्हे मनुष्यक्षेत्र तथा समयक्षेत्र भी कहते हैं। क्योंकि—समय-विभाग इन्हीं क्षेत्रों से किया जाता है मनुष्य और तिर्यंचों का इस में विशेष निवास है ।

इन क्षेत्रो में दो प्रकार से मनुष्यो की वस्ति मानी जाती है । जैसे कि—कर्मभूमिक मनुष्य और अकर्मभूमिक मनुष्य । जो अकर्मभूमिक मनुष्य होते हैं वे तो केवल कल्प वृक्षों के सहारे पर ही अपनी आयु पूरी करते हैं । इन की सर्व प्रकार से खाद्य पदार्थों की इच्छा कल्पवृक्ष ही पूरी करदेते हैं, वे

भावार्थ-कर्मों से ब्राह्मण होता। है जैसेकि—"अध्यापनं, याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव" अध्यापनवृत्ति, याजनकर्म और प्रतिग्रह कर्म अर्थात् पढ़ाना, यज्ञ करना, दान लेना, इत्यादि कर्म ब्राह्मणों के होते हैं। इस का सारांश इतना ही है कि-पूजा के लिये शान्ति के उपायों का चिन्तन करना तथा संतोष वृत्ति द्वारा शान्त रहना, यही कर्म ब्राह्मणों के प्रतिपादन किये गये हैं, किन्तु "भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम्" प्राणियों की रक्षा, शस्त्रद्वारा आजीवन व्यतीत करना, सत्पुरुषों पर उपकार करना, दीनों का उद्धार करना अर्थात् उनके निर्वाह के लिये कार्य-क्षेत्र नियत कर देना संग्राम से न भागना इत्यादि कार्य क्षत्रियों के होते हैं। "वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम्" कृषिकर्म और पशुओं का पालना, आर्जव भाव रखना, पुण्यादि के वास्ते अन्न दानादि यथा शक्ति करना आरामादि की रचना इत्यादि ये सब कर्म वैश्यो के होते हैं। "त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्मपुण्यपुटवाहनं शूद्राणाम्" तीनो वर्णों की सेवा करनी, नर्त्तकादि कर्म, भिक्षुओं का उपसेवन इत्यादि कार्य शूद्रों के होत हैं।

जाति परिवर्त्तनशील नहीं होती, किन्तु कर्मों के आश्रित होने से वर्ण परिवर्त्तनशील माना जा सकता है। क्योंकि-जाति की प्रधानता जन्म से मानी जाती है और वर्ण की प्रधानता कर्म से मानी जाती है जैसे कि-एकेंद्रियादि चतुरिन्द्रिय जाति वाले जीव मोक्ष गमन नहीं कर सकते। केवल पंचेन्द्रिय मनुष्यजाति ही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है।

अपरंच वर्ण की कोई व्यवस्था नहीं बांधी गई है। जैसे कि-अमुक वर्ण वाला ही मोक्ष जा सकता है अन्य नहीं। क्योंकि-मोक्ष तो केवल 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के ही आश्रित है, न तु वर्ण व्यवस्था के आश्रित। यदि कोई कहे कि-शास्त्रों मे "जाइसपन्ने कुलसपन्ने" इत्यादि पाठ आते हैं जिन का यह अर्थ है कि जाति-संपन्न अर्थात् माता का पक्ष निर्मल और पिता का पक्ष कुल संपन्न। तब इनका क्या अर्थ माना जायेगा? इस का उत्तर यह है कि-ये सब कथन व्यवहारनय के आश्रित होकर ही प्रतिपादन किये गये हैं। किन्तु निश्चय नय के मत में जो जीव सम्यग्दर्शनादि धारण कर लेता है वही मोक्ष गमन के योग्य होजाता है।

आगे सम्यग्दर्शन मे नव तत्त्व का सम्यग् प्रकार से विचार किया

---

१ ये सब सूत्र, ७-८-९ और १० वें नीतिवाक्यामृत के त्रयी समुद्देश के हैं॥

२ अजीवतत्त्व-जिस में जीवतत्त्व के लक्षण न पाए जायँ, उसी का नाम अजीवतत्त्व है अर्थात् वीर्य तो हो परन्तु उपयोग शक्ति जिस मे न हो उसी का नाम अजीवतत्त्व है। जीवतत्त्व के गुणों से विवर्जित केवल जड़ता गुण सम्पन्न अजीवतत्त्व माना जाता है। क्योंकि-यद्यपि घटिकादि पदार्थ समय का ठीक २ ज्ञान भी कराते हैं, परन्तु स्वयं वे उपयोग शून्य होते हैं। अतएव धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये सब अजीवतत्त्व मे प्रतिपादन किये गए हैं, किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सब अरूपी अजीव कथन किये गये हैं। अपितु जो पुद्गलद्रव्य है वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त होने से रूपी द्रव्य माना गया है। इस लिये यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पुद्गलात्मक हैं। पुद्गल द्रव्य के ही स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणुपुद्गल संसारी क्रियाएँ करते हैं। इन्हीं का सब प्रपंच होरहा है क्योंकि- पुद्गल द्रव्य का स्वभाव मिलना और विछुड़ना माना गया है, इस लिये प्रायः पुद्गल द्रव्य ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुणयुक्त प्रत्यक्ष देखने में आता है। सो इसी को रूपी अजीव द्रव्य कथन किया गया है॥

३ पुण्यतत्त्व-जो संसारी जीवों को संसार में पवित्र और निर्मल करता रहता है उसी को पुण्यतत्त्व कहते हैं। क्योंकि—शुभ क्रियाओं द्वारा शुभ कर्म प्रकृतियों का संचय किया जाता है। फिर जब वे प्रकृतियां उदय में आती हैं तब जीव को सब प्रकार से सुखों का अनुभव करना पड़ता है। सो उसी को पुण्यतत्त्व कहते हैं। किन्तु वे पुण्यप्रकृतियां नव प्रकार से बांधी जाती हैं जैसेकि—

अन्नपुण्य—अन्न के दान करने से।१।

पानपुण्य—पानी (जल) के दान से।२।

लयनपुण्य—पर्वतादि में जो शिलादि के गृह बने हुए होते हैं तथा-पर्वत में कृत्रिम गुहादि के दान से।३।

शयनपुण्य—शय्या वसति के दान से।४।

वस्त्रपुण्य—वस्त्र के दान से।५।

मनोपुण्य—शुभमनोयोग प्रवर्त्ताने से।६।

वचनपुण्य—शुभ वचन के भाषण से।७।

कायपुण्य—काम के वश करने से।८।

नमस्कारपुण्य—नमस्कार करने से।९।

सो उक्त नव प्रकार से जीव पुण्य प्रकृतियों का संचय करता है जिस के परिणाम में वह नाना प्रकार के सुखों का अनुभव करने लग जाता है और संसार पक्ष में वह सर्व प्रकार से प्रायः प्रतिष्ठित माना जाता है।

पादन किये गये हैं तथापि इस के मुख्य दो ही कारण माने जा सकते हैं एक योगसंक्रमण और दूसरा कषाय । क्योंकि-जब मनोयोग, वचनयोग और काययोग का संक्रमण होगा तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय होगा तब अवश्यमेव कर्म प्रकृतियों का आत्मप्रदेशों के साथ परस्पर लोलीभाव हो जायगा। अपितु जब वे प्रकृतियां उदय भाव मे आजाएँगी तब वे अवश्यमेव फल प्रदान करेंगी। इसी आश्रवतत्त्व मे पुण्य और पाप ये दोनो तत्त्व समवतार हो जाते हैं। अतएव पुण्य प्रकृतियों को शुभ आश्रवतत्त्व कहते हैं और पाप प्रकृतियों को अशुभ आश्रवतत्त्व। सो दोनो प्रकृतियां अपने २ समय पर जब उदय भाव मे आती हैं तब आत्मा को उन का अवश्यमेव अनुभव करना पड़ता है। सो इसी का नाम आश्रवतत्त्व है।

६ संवरतत्त्व-जिन २ मार्गों से आश्रव आता हो उन का निरोध करना अर्थात् कर्मों का जिस से आत्मा के साथ सम्बन्ध न हो सके: उन क्रियाओ को संवरतत्त्व कहते हैं। पूर्व लिखा जा चुका है कि—पुण्य और पाप दोनो ही आश्रव हैं: सो इन दोनों के परमाणुओं का निषेध करना जिस से आत्मा के साथ लोलीभाव न हो सके, वही संवरतत्त्व कहा जाता है।

यद्यपि नवतत्त्वप्रकरणादि ग्रन्थों में इस तत्त्व के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए है। तथापि मुख्य ५ ही वर्णन किये गए हैं जैसे कि—

१ सम्यक्त्वसंवर—अनादि काल से जीव मिथ्या दर्शन से युक्त है इसी कारण संसार चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। जिस समय इस जीव को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होती है उसी समय संसारचक्र का चक्रदेशोन-अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन शेष रह जाता है। सम्यग्दर्शन द्वारा पादार्थों के स्वरूप को ठीक जानकर आत्मा अपने निज-स्वरूप की ओर झुकने लग जाता है। मिथ्या दर्शन के दूर हो जाने से सम्यग् ज्ञान प्राप्त हो कर अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब सम्यक्त्व रत्न जीव को उपलब्ध होता है तब उस की दशा संसार से निवृत्तिभाव और विषयो से अन्तःकरण मे उदासीनता आजाती है। पदार्थों के सत्यस्वरूप को जान कर तब वह आत्मा मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये उत्सुकता धारण करने लग जाता है। अतएव जिस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान ने पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन किया है उस भावको अन्तःकरण से सत्य जानना यही सम्यक्त्व का वास्तविक स्वरूप है तथा पदार्थों के ठीक २ भावों को स्वमति वा गुरु आदि के उपदेश से जान लेना ही सम्यग् दर्शन कहा जाता है। सो यावत्काल पर्यन्त आत्मा को सम्यग् दर्शन प्राप्त नही होता, तावत्काल पर्यन्त मोक्षपद की प्राप्ति से वंचित ही रहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् उसी समय जीव को सम्यक्त्व संवर की प्राप्ति हो जाती है

कायक्लेश तप—केश लुंचन वा योग आसनादि लगाने ॥ ५ ॥

प्रति संलीनता तप—इंद्रियां वा कषायादि को वशीभूत करना ॥ ६ ॥

अभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्ततपकर्म—जब कोई पाप कर्म लग गया हो तब अपने गुरु के पास जाकर शुद्ध भावों से उस पाप की विशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त धारण करना ॥ १ ॥

विनय तप—गुरु आदि की यथायोग्य विनय भक्ति करना ॥ २ ॥

वैयावृत्य—गुरु आदि की यथायोग्य सेवा भक्ति करना ॥ ३ ॥

स्वाध्यायतप—शास्त्रों का विधिपूर्वक पठन पाठन करना ॥ ४ ॥

ध्यानतप—आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान को छोड़ कर केवल धर्मध्यान वा शुक्ल ध्यान के आसेवन का अभ्यास करना ॥ ५ ॥

कायोत्सर्गतप—काय का परित्याग कर समाधिस्थ हो जाना ॥ ६ ॥

इन तप कर्मों का सविस्तर स्वरूप उववाई आदि शास्त्रों से जानना चाहिए। सो इन तपों द्वारा कर्मों की निर्जरा की जा सकती है। अतएव इसी का नाम निर्जरातत्त्व है।

८ बंधतत्त्व—जिस समय आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्मों की प्रकृतियों का सम्बन्ध होता है उसी को बंधतत्त्व कहते हैं। सो उस बंधतत्त्व के मुख्य चार भेद हैं जैसे कि—

प्रकृतिबंध—आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियां हैं उनका आत्मप्रदेशों के साथ बंध हो जाना ॥ १ ॥

स्थितिबंध—फिर उक्त प्रकृतियों की स्थिति का होना वही स्थितिबंध होता है ॥२॥

अनुभागबंध—आठों कर्मों की जो प्रकृतियां हैं उनके रसों का अनुभव करना ॥ ३ ॥

प्रदेशबंध—आठ कर्मों के अनंत प्रदेश हैं तथा जीव के असंख्यात प्रदेशों पर कर्मों के अनंत प्रदेश ठहरे हुए हैं क्षीरनीरवत् तथा अग्निलोहपिण्डवत् ॥ ४ ॥

९ मोक्षतत्त्व—जब आत्मा के सर्व कर्म क्षय होजाते हैं तब ही निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। परन्तु स्मृति रहे कि—सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा ही सर्व कर्म क्षय किये जा सकते हैं। कर्मक्षय होने के अनन्तर यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, पारङ्गत, परम्परागत, निरंजन, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा अनंत शक्ति युक्त होकर निज स्वरूप में निमग्न होता हुआ शाश्वत सुख में सदैव विराजमान होजाता है। अतएव प्रत्येक प्राणी को संसार के

अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि–जैनशास्त्र कर्म के फल से मोक्ष मानता है वा कर्म-क्षय से ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि–जैनमत कर्म-फल से मोक्ष नहीं मानता किंतु कर्मक्षय से मोक्ष मानता है क्योंकि—मोक्ष पद सादि अनंत पद माना गया है । यदि कर्मो के फल से मोक्षपद माना जाता तब तो मोक्षपद सादि सांत हो जाता क्योंकि--ऐसा कोई भी कर्म नही है जिस का फल सादि अनंत हो। जब कर्म सादि सान्त हैं तब उनका फल सादि अनंत किस प्रकार माना जा सकता है ? अतएव यह स्वतः सिद्ध होगया है कि–कर्म क्षय का ही अपर नाम मोक्ष है ।

यदि ऐसे कहा जाय कि—जब आत्मा किसी समय भी अक्रिय नही हो सकता तो भला फिर अकर्मक किस प्रकार बन जायगा ? इस शंका का उत्तर यह है कि–जिस प्रकार गीले इंधन के जलाने की अपेक्षा सूखा (शुष्क) इंधन शीघ्र भस्म होजाता है ठीक उसी प्रकार जब प्रथम चार घातिये संज्ञक कर्म क्षय हो जाते हैं फिर चार अघातिक संज्ञक कर्म सूखे इंधन के समान रह जाते हैं फिर उनके क्षय करने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता । जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र के फाड़ने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता ठीक उसी प्रकार चार अघातिक संज्ञक कर्मो के क्षय करने में विलम्ब नही होता। क्योंकि उस समय ध्यान अग्नि इतनी प्रचण्ड होती है कि–जिसके द्वारा महान् कर्मो की निर्जरा की जा सकती है। किन्तु वे कर्म तो जीर्ण काष्ट के समान अत्यन्त निर्बल और नाम मात्र ही शेष होते है। अतएव शनै २ योगो का निरोध करते हुए जब आत्मा अक्रिय होता है तब उसी समय वे चारो कर्म क्षय होजाते हैं यदि कोई कहे कि–जब क्रियाओं द्वारा कर्म किया गया तब फिर उन कर्मों की घातिक संज्ञा और अघातिक संज्ञा क्यों बांधी जाती है तथा कर्मो की मूल ८ प्रकृतियां तो उत्तर १४८ प्रकृतिया क्यों मानी गई है ? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि–वास्तव में कर्म शब्द एक ही है, परन्तु पुण्य और पाप की प्रकृतियों के देखने से शुभ और अशुभ मुख्य दो कर्म प्रतिपादन किये गए है।

फिर जिज्ञासुओं के बोध के लिये कर्मो के अनेक भेद वर्णन किये गए हैं। परन्तु मूल भेद उनके आठ ही हैं अर्थात् जब कोई कर्म किया जाता है तब उस कर्म के परमाणु आठ स्थानों पर विभक्त हो जाते है। जिस प्रकार एक ग्रास मुख में डाला हुआ शरीर मे रहने वाले सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है ठीक उसी प्रकार एक कर्म किया हुआ मूल प्रकृतियो वा उत्तर प्रकृतियां के रूप में परिणत हो जाता है। उन आठ मूल प्रकृतियों की 'घातिक' और 'अघातिक' संज्ञा दी गई है। जिन कर्मो के करने से आत्मा के निज गुणों पर

ठीक उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

प्रश्न—आयुष्कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसके द्वारा आत्मा चारों गतियों मे स्थिति करता है जैसेकि-नरक गति की आयु १, तिर्यग् गति की आयु २. मनुष्य गति की आयु ३ और देवगति की आयुः ४।

प्रश्न—नाम कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा शरीर की रचना होती है उसे नाम कर्म कहते हैं। आगे शुभ और अशुभ आदि इसके अनेक भेद हैं।

प्रश्न—गोत्र कर्म किसे कहते है?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा जाति आदि की उच्चता और नीचता दीख पड़ती है, उसे गोत्र कहते है अर्थात् इस कर्म के द्वारा आत्मा संसार मे उच्च और नीच माना जाता है।

प्रश्न—अंतराय कर्म किसे कहते है?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं तथा जो पदार्थ पास हैं वे छिन्न भिन्न हो जाएँ और जिन पदार्थों के मिलने की आशा हो. वे न मिल सके तब जानना चाहिए कि अब अंतराय कर्म का विशेष उदय हो रहा है।

प्रश्न—ये आठों ही कर्म किस समय बाँधे जाते हैं?

उत्तर—प्रतिक्षण (समय २) आठो ही कर्म बाँधे जाते हैं. परन्तु आयुष्कर्म प्रायः निज आयु के तृतीय भाग मे जीव बांधते हैं। अतः आयुष्कर्म को छोड़ कर सातो ही कर्म प्रतिसमय निरन्तर बाँधे जाते है। देव और नारकीय अपनी छ मास आयु शेष रहजाने पर परलोक का आयुष्कर्म बाँधते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों के सोपकर्म वा निरुप कर्म आदि अनेक भेद हैं परन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि-विना आयुष्कर्म के बाँधे कोई भी जीव परलोक की यात्रा के लिए प्रवृत्त नही होता।

प्रश्न—कर्मो के परमाणु कितने २ होते है?

उत्तर—प्रत्येक कर्म के अनंत २ परमाणु होते है। इतना ही नही किन्तु जीव के असंख्यात प्रदेशो पर कर्मों के अनंत २ परमाणुओ का समूह जमा हुआ है, उन्हें कर्मों की वर्गणाये भी कहते हैं। परन्तु स्थिति युक्त होने से अपने २ समय पर उन कर्मों के रस का अनुभव किया जाता है।

प्रश्न—आठ कर्म किस प्रकार जीव बाँधते है?

उत्तर—

कहणं भं ते जीवा अठकम्म पगडीओ बंधइ? गोयमा! नाणावरणि-

णिज्जकम्मा सरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पयोगबंधे ॥

भगवतीसूत्रशतक ८ उद्देश ९।

टीका—कम्मासरीरेत्यादि: "णाणपडिणीययाए" त्ति ज्ञानस्य—श्रुतादेस्तदभेदात् ज्ञानवता या या प्रत्यनीकता—सामान्येन प्रतिकूलता सा तथा तया, "णाणनिण्हवणयाए" त्ति ज्ञानस्य—श्रुतगुरूणा या या निह्नवता—अपलपनं सा तथा तया "नाणंतेराएण" ति ज्ञानस्य—ज्ञानस्यान्तराय —तद्ग्रहणादौ विघ्नो य. स तथा तेन "नाणपओसेण" त्ति ज्ञाने—श्रुतादौ ज्ञानवत्सु वा य. प्रद्वेष —अप्रीति स तथ तेन 'नाणऽच्चा सायणाए' त्ति—ज्ञानस्य ज्ञानिना वा याऽत्याशातना—हेलना सा तथा 'नाणविसंवायणाजोगेण" त्ति ज्ञानस्य ज्ञानिना वा विसंवादनयोगो—व्यभिचारदर्शनाय व्यापारो य स तथा तेन एतानि च बाह्यानि कारणानि ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरबन्धे अथाऽनन्तर कारणमाह—'णाणावरणिज्ज' मित्यादि ज्ञानावरणीय हेतुत्वेन ज्ञानावरणीयलक्षणं यत्कार्म्मणशरीरप्रयोग नाम तत्तथा तस्य कर्म्मण उदयेनेति"

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी श्रीश्रमण भगवान् महावीर प्रभु से पूछते है कि—हे भगवन् ! ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरप्रयोगबंध किस कर्म के उदय से होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् प्रतिपादन करते है कि—हे गौतम ! छः कारणो से आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते है और ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरप्रयोग नाम कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग का बंध कथन किया गया है। किन्तु जो ज्ञानावरणीय कर्म का बंध छः प्रकार से प्रतिपादन किया गया है वह निम्न प्रकार से जानना चाहिए जैसेकि—

१ ज्ञान और ज्ञानवान् आत्मा की प्रतिकूलता करने से।

२ श्रुतज्ञान वा श्रुतगुरु उन का नाम छिपाने से अर्थात् ज्ञान को छिपाना और मन मे यह भाव रखना कि-यदि अमुक व्यक्ति को श्रुत ज्ञान सिखला दिया तब उस का महत्व बढ़ जाएगा तथा जिस से मै पढ़ा हूँ उसका नाम बतला दिया तो मेरी अपेक्षा से उस की कीर्त्ति बढ़ जाएगी वा अन्य व्यक्ति जाकर उस से पढ़ लेगे इत्यादि कुविचारो से ज्ञान को वा श्रुत गुरु के नाम को छिपाते रहना।

३ श्रुतज्ञान के पढ़ने वालो को सदैव काल विघ्न करते रहना जिससे कि वे पढ़ न सकें। मन में इस बात का विचार करते रहना कि—यदि ये पढ़ गए तो मेरी कीर्त्ति न्यून हो जायगी।

४ ज्ञान वा ज्ञानवालों से द्वेष करना अर्थात् जो मूढ़ हैं उन से प्रेम और जो ज्ञानवान् है उन के साथ द्वेष। इस प्रकार के भावों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध किया जाता है।

अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ॥

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देश ६ ।

भावार्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! सातावेदनीय कार्मणशरीरप्रयोग बंध किस कर्म के उदय से होता है ? (उत्तर) हे गौतम ! प्राणियों की, भूतो की, जीवों की, सत्वों की अनुकंपा करने से, बहुत से प्राणी यावत् सत्वों को दुःख न देने से, दैन्य भाव उत्पन्न न करने से, शोक उत्पन्न न करने से, अश्रुपात न कराने से, यष्ट्यादि के न ताड़ने से, शरीर को परिताप न देने से। इस प्रकार हे गौतम ! जीव साता वेदनीय कर्म को बांधते हैं। इस सूत्र का यह मन्तव्य है कि-सातावेदनीय कर्म प्राणी मात्र को साता देने से बांधा जाता है जिस का परिणाम जीव सुखरूप अनुभव करते हैं।

प्रश्न—असाता वेदनीय कर्म किस कारण से बांधा जाता है ?

उत्तर—जीवों को असाता उत्पन्न करने से क्योंकि-जिस प्रकार जीवों को दुःखों से पीड़ित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार असाता (दुःख) वेदनीय कर्म का रस अनुभव करने में आता है। तथा च पाठः—

अस्साया वेयणिज्जपुच्छा, गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवा अस्साया वेयणिज्जा जावप्पयोगबंधे ॥

भगवती सू० शतक ८ उद्देश ६ ।

भावार्थ—जिस प्रकार जीवों को सुख देने से साता वेदनीय कर्म बांधा जाता है ठीक उसी प्रकार दुःख देने से, सोच कराने से, शरीर के अपचय (पीड़ा) करने से, अश्रुपात कराने से, दंडादि द्वारा ताड़ने से, शरीर को परिताप न देने से असाता वेदनीय कर्म बांधा जाता है। जिस का परिणाम जीव को दुःख रूप भोगना पड़ता है।

प्रश्न—मोहनीय कर्म किस प्रकार से बांधा जाता है और मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के करने से आत्मा धर्ममार्ग से पराङ्मुख रहे और सदैव काल पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा करता रहे उसे ही मोहनीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार मदिरापान करने वाला जीव तत्त्व विचार से पतित हो जाता है ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्मवाला जीव प्रायः धर्म क्रियाओं से

तिरिक्ख जोणियाउयकम्मासरीरप्पयोग पुच्छा, गोयमा ! माइल्लि-याए नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतुलकूडमाणेणं तिरिक्खजोणिया उयकम्मासरीर जावप्पयोगबंधे ।

भग० श० ८ उद्देश ६ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! तिर्यग्योनिकायुष्कार्मण शरीर प्रयोग का बंध किस कारण से किया जाता है ? इसके उत्तर मे श्री भगवान् कहते है कि-हे गौतम ! पर के वंचन (छलने) की बुद्धि से, वंचन के लिये जो चेष्टाएँ हैं उन मे माया का प्रच्छादन करने से अर्थात् छल मे छल करने से, असत्य भाषण से और कूट तोलना और कूट ही मापना इस प्रकार की क्रियाओ के करने से जीव पशु योनि की आयु बांध लेता है । जिसका परिणाम यह होता कि-वह मर कर फिर पशु बन जाता है ।

प्रश्न—मनुष्य की आयु जीव किन २ कारणों से बांधते है ?

उत्तर—भद्रादिक्रियाओं के करने से जीव मनुष्य की आयु को बांध लेता है जैसेकि—

मणुस्सआउयकम्मा सरीर पुच्छा, गोयमा ! पगइभद्दयाए पगइ-विणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए मणुस्साउयकम्माजावप्पयोगबंधे ।

भग० श० ८ उ० ६ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मनुष्य की आयु जीव किन २ कारणों से बांधते है ? हे शिष्य ! स्वभाव की भद्रता से, स्वभाव से ही विनयवान् होने से, अनु-कंपा के करने से और परगुणों मे असूया न करने से अर्थात् किसी पर ईर्ष्या न करने से। इन कारणों से मनुष्यायुष्कार्मण शरीर का बंध किया जाता है।

प्रश्न-देव की आयु किन २ कारणो से बांधी जाती है ?

उत्तर—सराग संयमादि क्रियाओ से देवभव की आयु बांधी जाती है जैसेकि—

देवाउयकम्मासरीर पुच्छा, गोयमा ! सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए देवाउयकम्मा सरीरजावप्पयोगबंधे ॥

भगवती, सू० शतक ८ उद्देश ॥६॥

भावार्थ—हे भगवन् ! देवायुष्कार्मण शरीर किन २ कारणों से बांधा जाता है ? हे शिष्य ! देवभव की आयु चार कारणो से बांधी जाती है। जैसेकि—राग भाव पूर्वक साधु वृत्ति पालन से गृहस्थ धर्म पालन करने से, अज्ञानता पूर्वक कष्ट सहने से, अकामनिर्जरा (वस्तु के न मिलने से)

प्रश्न—ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोगवध किस प्रकार से किया जाता है ?

उत्तर—किसी भी प्रकार से अहंकार न किया जाए अर्थात् किसी पदार्थ के मिलने पर यदि गर्व न किया जाए तव आत्मा ऊंचगोत्र कर्म की उपार्जना करलेता है। जैसेकि—

उच्चागोयकम्मासरीरपुच्छा, गोयमा ! जातिअमदेणं कुलअमदेणं वलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरिय अमदेणं उच्चागोयकम्मा सरीर जावप्पयोगवंधे, ॥

भग० शत० ८ उ० ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोग का वंध किस प्रकार से किया जाता है ? हे शिष्य ! जाति, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और ऐश्वर्य का मद न करने से ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोग का वंध किया जाता है अर्थात् किसी भी पदार्थ का गर्व न करने से ऊंचगोत्र कर्म की उपार्जना की जाती है।

प्रश्न—नीचगोत्र कर्म किस प्रकार से वांधा जाता है ?

उत्तर—जिन २ कारणों से ऊंच गोत्र कर्म का वंध माना गया है ठीक उसके विपरीत नीच गोत्र कर्म का वंध प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि—

नीया गोयकम्मासरीर पुच्छा, गोयमा ! जातिमदेणं कुलमदेणं वलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मासरीर जावप्पयोगवंधे।

भग०सू०शतक ८ उद्देश ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! नीच गोत्र कर्म जीव किन २ कारणो से वांधते हैं ? हे शिष्य ! जाति, कुल, वल, यावत् ऐश्वर्य का मद कर ने से जीव नीच गोत्र कर्म की उपार्जना कर लेते हैं, इस सूत्र का आशय यह है कि—जिस पदार्थ का मद किया जाता है वास्तव मे वही पदार्थ उस आत्मा को फिर कठिनता से उपलब्ध होता है क्योंकि—वास्तव मे जीव की ऊंच और नीच संज्ञा नही है, शुभ और अशुभ पदार्थों के मिलने से ही ऊंच और नीच कहा जा सकता है। सो आठ कारण स्फुट रूप से ऊपर वर्णन किये जाचुके है।

प्रश्न—अंतरायकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से कार्यों की सिद्धि में विघ्न उपस्थित हो जावे, उसका नाम अंतराय कर्म है। क्योंकि—मन मे कार्य की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के संकल्प उत्पन्न किये गए थे परन्तु सफलता किसी कार्य की भी न होसकी। तव जान लेना चाहिए कि—अंतराय कर्म का उदय होरहा है।

स्वभाव भी होना चाहिए, क्योंकि—यदि वीज दग्ध है वा अन्य प्रकार से उसका स्वभाव अंकुर देने का नहीं रहा है तब वह बीज फलप्रद नहीं होगा। अतः वीज का शुद्ध स्वभाव होना चाहिए, फिर स्वभावानुसार नियति (होनहार) होनी चाहिए जैसे कि—खेती की रक्षादि। फिर लाभप्रद कर्म होना चाहिए जिससे खेती धान्यों से निर्विघ्नता पूर्वक पूर्ण हो जावे। जब ये कर्म अनुकूल हों तब फिर उस खेती की सफलता सर्वथा पुरुषार्थ पर ही निर्भर है क्योंकि—उक्त चारों कारणों की सफलता केवल पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित है। कल्पना करो कि—समय, स्वभाव, नियति (भवितव्यता) और कर्म ये चारों अनुकूल भी हो जाएँ, परन्तु चारों की सिद्धि में पुरुषार्थ नहीं किया गया तब चारों ही निष्फल सिद्ध होंगे। सिद्ध हुआ कि—प्रत्येक कार्य में पूर्वोक्त पाँचों समवायों की अत्यन्त आवश्यकता है। सो जिस समय जीव कर्मों के फल को भोगने लगता है तब उस फल को भोगने के लिये पाँच ही समवाय एकत्र हो जाते हैं। यदि ऐसे कहा जाय कि—कर्म तो जड़ हैं, वे जीव को फल किस प्रकार दे सकते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि-ऋतु (काल) तो जड़ है यह पुष्पों वा वृक्षों को प्रफुल्लित किस प्रकार कर सकती है? तथा मदिरा भी तो जड़ है यह पीने वाले को अचेत किस प्रकार करदेती है? इसी प्रकार कर्म जड़ होने पर भी पाँचो समवायों के मिल जाने पर आत्मा को शुभाशुभ फलों से युक्त करदेते हैं। जिस समय जीव कर्म करता है उसी समय उसके उदय वा उपशमादि निमित्तों को भी बाँध लेता है। जिस प्रकार जब किसी व्यक्ति को किसी रोग का चक्र (दौरा) आने लगता है तब उसे रोकने के लिये वैद्य लोग अनेक प्रकार की औषधियों का उपचार करते हैं, और क्रमशः चेष्टाओं से सफल मनोरथ हो जाते हैं। जिस प्रकार रोग चक्र का उदय और उपशम होना निश्चित है ठीक उसी प्रकार जो कर्म किये जा चुके हैं उन कर्मों का उदय वा उपशम होना भी प्रायः बाँधा हुआ होता है। साथ ही नूतन भी उपक्रम आत्मा निज भावों से उत्पन्न कर लेता है कारणकि—आत्मा वीर्ययुक्त माना गया है, वह अपने वीर्य द्वारा नूतन निमित्तादि भी उत्पन्न कर सकता है। सो आत्मा निज कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख का अनुभव करता है। कर्मों का ठीक २ विज्ञान होने पर ही आत्मा फिर उनसे विमुक्त होने की चेष्टा करेगा। क्योंकि-यदि ज्ञान ही नहीं तो भला फिर उनसे छूटने का उद्योग किस प्रकार किया जा सकता है? सम्यग्ज्ञान होने से ही जीव चारित्रारूढ़ हो सकता है। श्री भगवान् ने भगवती सूत्र में निम्न प्रकार से जनता को दृष्टांत देकर समझाया है। जैसेकि—

अत्थि णं भंते! जीवाणं पावाकम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति?

विष प्रथम तो कोई हानि उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जब विष परिणत होजाता है तब शरीर की दशा को बिगाड़ कर मृत्यु तक पहुंचाता है, उसी प्रकार पापकर्म जब किया जाता है तब तो प्रिय लगता है परन्तु करने के पश्चात् बहुत दुःखोत्पादक होजाता है। अत: जिस प्रकार विष ने काम किया ठीक उसी प्रकार पाप कर्म फल देता है।

अब कालोदायी श्री भगवान् से शुभ कर्म विषय फिर प्रश्न करते हैं। जैसेकि--

अत्थिणं भंते! जीवाणं कल्लाणकम्मा कल्लाणफलविवाग संजुत्ता कज्जंति! हंता अत्थि,कहणं भंते! जीवाणं कल्लाणकम्मा जाव कज्जंति? कालोदाई! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारस वंजणाकुलं ओसहमिस्सं भोयण भुंजेज्जा! तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ,तओ पच्छा परिणममाणे २ सुरूवत्ताए सुवन्नत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो २ परिणमति, एवामेव कालोदायी! जीवाणं पाणाइवाय वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छादंसणसल्ल विवेगे तस्सणं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे २ सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो २ परिणमइ एवं खलु कालोदाई! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति ॥

भग०शतक ७ उद्देश १० ॥

भावार्थ- कालोदायी श्री श्रमण भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि-हे भगवन्! क्या जीवों को कल्याणकारी कर्म कल्याण फल विपाक से युक्त करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि-हे कालोदायिन्! हाँ, कल्याणकारी कर्म जीवों को कल्याण फल से युक्त करते हैं। तब फिर उदायिन ने प्रश्न किया कि-हे भगवन्! किस प्रकार उक्त कर्म कल्याण फल से युक्त करते हैं? उत्तर में श्री भगवान् ने कथन किया कि हे कालोदायिन्! जैसे किसी पुरुष ने स्थालीपाक शुद्ध अष्टादश व्यंजनों से युक्त शुद्ध और पवित्र भोजन औषध से मिश्रित खा लिया। तब खाते समय वह भोजन उस पुरुष को प्रिय नहीं लगता है क्योंकि-औषध के कारण उस का रस कटुकादि होगया है। किन्तु जब उस भोजन का परिणमन होता है तब उस पुरुष के रोग दूर होजाने से उस की सुरूपता और सुवर्णता तथा सुखरूप भाव में वह भोजन परिणत होजाता है, ठीक उसी प्रकार हे कालोदायिन्! जब जीव हिंसादि १८ पाप कर्मों को छोड़ता है तब उस समय तो उस जीव को कष्ट सा प्रतीत होता है क्योंकि-दुष्ट कर्मों का जब परित्याग करना पड़ता है तब मन आदि संकल्पो का निरोध करना अति कठिन सा प्रतीत होने लगता है,

सम्बन्ध होने पर शोक करना । (३) पीड़ाचिन्तवन—पीड़ा रोग होने पर दुःखी होना। (४) निदान—आगामी भोगों की चाह से जलना।

रौद्रध्यान—चार तरह का होता है। (१) हिंसानन्द–हिंसा करने कराने में व हिंसा हुई सुनकर आनन्द मानना। (२) मृषानन्द—असत्य बोलकर, बुलाकर व बोला हुआ जान कर आनन्द मानना। (३) चौर्यानन्द–चोरी करके, कराके व चोरी हुई सुनकर आनन्द मानना। (४) परिग्रहानन्द—परिग्रह बढ़ाकर, बढ़वाकर व बढ़ती हुई देखकर हर्ष मानना।

धर्मध्यान—चार प्रकार का है। (१) आज्ञाविचय—जिनेन्द्र की आज्ञानुसार आगम के द्वारा तत्वों का विचार करना। (२) अपायविचय—अपने व अन्य जीवों के अज्ञान व कर्म के नाश का उपाय विचार करना (३) विपाकविचय—आपको व अन्य जीवों को सुखी या दुःखी देखकर कर्मों के फल का स्वरूप विचारना। (४) संस्थानविचय—इस लोक का तथा आत्मा का आकार वा स्वरूप का विचार करना। इसके चार भेद हैं:-

(१) पिंडस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत।

पिंडस्थध्यान

ध्यान करने वाला मन, वचन, काय शुद्धकर एकान्त स्थान मे जाकर पद्मासन या खड़े आसन व अन्य किसी सिद्धादि आसन से तिष्ठकर अपने पिंड या शरीर मे विराजित आत्मा का ध्यान करे। सो पिंडस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाएं हैं:—

१ पार्थिवीधारणा—इस मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल देख कर उसके मध्य मे एक लाख योजन व्यास वाला जम्बूद्वीप के समान ताए हुए सुवर्ण के रंग का एक हज़ार पॉखड़ी का एक कमल विचारे। इस कमल के सुमेरु पर्वत समान पीत रंग की ऊँची किर्णिका विचारे। फिर इस पर्वत के ऊपर पाण्डुक वन मे पाण्डुक शिला पर एक स्फटिक मणी का सिंहासन विचारे और यह देखे कि मैं इसी पर अपने कर्मों को नाश करने के लिये बैठा हूं। इतना ध्यान वार वार करके जमावे और अभ्यास करे। जब अभ्यास होजावे तब दूसरी धारणा का मनन करे।

२ अग्निधारणा—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ ध्यान करने वाला यह सोचे कि मेरे नाभि के स्थान मे भीतर ऊपर मुख किये खिला हुवा एक १६ पॉखड़ी का श्वेत कमल है। उसके हर एक पत्ते पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ऐसे १६ स्वर क्रमसे पीले लिखे है व बीच में हैं पीला लिखा है। इसी कमल के ऊपर हृदय स्थान में एक कमल औंधा खिला हुआ आठ पत्ते का उड़ते हुए काले रंग को विचारे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय, ऐसे आठ कर्म रूप हैं ऐसा सोचे।

३ पवनधारणा–दूसरी धारणा का अभ्यास होने के पीछे यह सोचे कि मेरे चारों ओर पवन मंडल घूमकर राख को उड़ा रहा है। उस मंडल में सब ओर स्वाय स्वाय लिखा है *।

४ जलधारणा—तीसरी धारणा का अभ्यास होने पर फिर यह सोचे कि मेरे ऊपर काले मेघ आगये और खूब पानी बरसने लगा। यह पानी लगे हुए कर्म मैल को धोकर आत्मा को स्वच्छ कर रहा है। पपपप जल मंडल पर सब ओर लिखा है †।

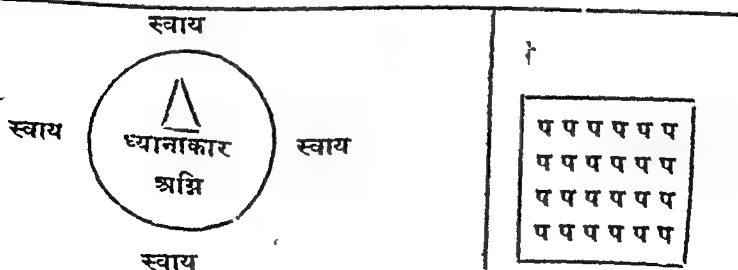
५ तत्वरूपवती धारणा–चौथी का अभ्यास हो जावे तब अपने को सर्व कर्म व शरीर रहित शुद्ध सिद्ध समान अमूर्तिक स्फटिकवत् निर्मल आकार देखता रहे: यह पिंडस्थ आत्मा का ध्यान है।

पदस्थध्यान

पदस्थ ध्यान भी एक भिन्न मार्ग है। साधक इच्छानुसार इस का भी अभ्यास कर सकता है। इसमें भिन्न पदार्थों को विराजमान कर ध्यान करना चाहिए। जैसे हृदय स्थान में आठ पांखड़ी का सुफेद कमल सोचकर उसके आठ पत्तों पर क्रम से आठ पद पीले लिखे। (१) णमो अरहंताणं (२) णमो सिद्धाणं (३) णमो आइरीयाणं (४) णमो उवज्झायाणं (५) णमो लोएसव्वसाहूणं (६) सम्यग्दर्शनाय नमः ७ सम्यग्ज्ञानाय नमः ८ सम्यक्चरित्राय नमः और एक एक पद पर रुकता हुआ उस का अर्थ विचारता रहे। अथवा अपने हृदय पर या मस्तक पर या दोनों भोहों के मध्य में या नाभि में ह्रीं या ॐ को चमकता सूर्य सम देखे व अरहंत सिद्ध का स्वरूप विचारे इत्यादि।

रूपस्थध्यान

ध्याता अपने चित्त मे यह सोचे कि मैं समवशरण मे साक्षात् तीर्थंकर भगवान् को अन्तरिक्ष ध्यानमय परम वीतराग छत्र चामरादि आठ प्रातिहार्य सहित देख रहा हूं। १२ सभाएँ है जिनमें देव. देवी, मनुष्य, पशु, मुनि आदि बैठे है, भगवान् का उपदेश होरहा है।



के अन्तःकरण में नाना प्रकार की भाषाओं के वर्णों की आकृतियां परस्पर एक रूप होकर ठहरती है उसी प्रकार मुक्तात्माएँ भी परस्पर आत्मप्रदेशो द्वारा सम्मिलित होकर विराजमान हैं । यदि कोई शंका करे कि—जिस प्रकार एक पुरुष के अन्तः करण में भाषाओं के वर्णों की आकृतियां स्थित है, उसी प्रकार एक ईश्वर के रूप में अनेक मुक्तात्माएँ भी विराजमान कह सकते है ? इस के उत्तर में कहा जासकता है कि—जब सिद्ध पद अनादि स्वीकार किया गया तब सर्व सिद्ध परस्पर एक रूप होकर ठहरते हैं; क्योंकि—सिद्धात्मा पुद्गल से रहित स्वगुण में विराजमान है। कर्म क्षय का नाम ही मोक्षपद है कर्मफल का नाम मोक्षपद नही है । इसी लिये किसी एक जीव की अपेक्षा से सिद्धपद सादि अनंत माना गया है और बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से सिद्धपद अनादि अनन्त प्रतिपादन किया गया है । अत. सिद्ध भगवान् अपुनरावृत्ति वाले होते हैं-कारण कि—बद्ध आत्माएँ स्थिति युक्त होते है, न तु मुक्तात्मा । लौकिक पक्ष में भी देखा जाता है कि—जो आत्माएँ दुष्ट कर्मों के प्रभाव से कारागृह में जाती है उनकी तो स्थिति बांधी जाती है, परन्तु जब वह कारागृह का दंड भोग कर मुक्त होती हैं तब राजकीय पत्र आदि (गैज़ट) में फिर यह नही लिखा जाता कि—अमुक आत्मा अमुक दिन कारागृह से मुक्त की गई अथवा अमुक समय पर फिर कारागृह में आएगी। अतएव सिद्ध हुआ कि—मुक्तात्मा का फिर संसार मे आगमन युक्तियुक्त नही है," यदि कोई कहे कि—यदि मुक्तात्माएँ फिर संसार में नहीं आएँगी तो संसारचक्र मे जीवों का अस्तित्व भाव नही रहेगा। कारण कि जिस पदार्थ का समय २ पर व्यय ही हो रहा है उस की समाप्ति अवश्य मानी जायेगी ? इस शंका के उत्तर मे कहा जासकता है कि—आत्मा (जीव) अनंत है और जो अनंत पदार्थ है उसका कदापि अंत नही होसकता, क्योंकि—यदि अनंत का भी अंत माना जायगा तब उस पदार्थ का अंत आजाने से अनंत न कहना चाहिए। यदि तर्क किया जाए कि—काल द्रव्य भी तो अनंत है क्योंकि-अनंत काल अनंत पदार्थ को लेलेगा ? इसके उत्तर मे कहा जासकता है कि—ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने माना हुआ है कि—अनंतवार ईश्वर परमात्मा ने सृष्टि उत्पादन की और अनंत ही वार सृष्टि का प्रलय किया

* नोट—जो लोग मोक्ष से पुनरावृत्ति मानते है, वास्तव मे उन लोगों ने स्वर्ग को ही मोक्ष समझा है । क्योंकि-स्वर्गीयात्मा पुनरावृत्ति करता रहता है और उन लोगों की मोक्षावधि जो मानी हुई है उस अवधि से जैनसूत्रकारों ने स्वर्ग की अवधि कई गुणा अधिक प्रतिपादन की है ।

प्रश्न करते हैं कि-हे भगवन् ! क्या अकर्मक जीवों की भी गति स्वीकार की जाती है ? इस पर श्री भगवान् उत्तर प्रदान करते हैं कि-हॉ, गौतम ! अकर्मक जीवो की भी गति स्वीकार की जाती है । जब श्री भगवान् ने इस प्रकार से उत्तर प्रतिपादन किया तब श्री गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! किस प्रकार अकर्मक जीवों की गति मानी जाती है ? तब श्री भगवान ने प्रतिपादन किया कि हे गौतम ! कर्ममल के दूर होने से, मोह के दूर करने से, गति स्वभाव से, बंधनछेदन से, कर्मन्धन के विमोचन से, पूर्व प्रयोग से, इन कारणों से अकर्मक जीवों की गति जानी जाती है। अब उक्त कारणो से दृष्टान्तों द्वारा स्फुट करते हुए शास्त्रकार वर्णन करते हैं।

से जहानामए--केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिड्डं निरुवहयंति आणुपुव्वीए परिकम्मेमाणे २ दब्भेहिय कुसेहि य वेढेइ २ अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं लिंपइ २ उण्हे दलयति भूतिं २ सुक्कं समाणं अत्थाह मतारमपोरसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए सलिलतलमतिवइत्ता अहे-धरणितल पइट्ठाणे भवइ ?, हंता भवइ, अहेणं से तुंबे अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं परिक्खएणं धरणितलमतिवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ ?, हंता भवइ, एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइ परिणामेणं अकम्मस्स गई पन्नायति ।

भावार्थ- श्रीभगवान् गौतमस्वामी को उक्त विषय पर दृष्टान्त देकर शिक्षित करते हैं, जैसे कि-हे गौतम ! कोई पुरुष शुष्क [सुका] तुंबा जो छिद्र से रहित, वातादि से अनुपहत उसको अनुक्रम से परिक्रम करता हुआ दर्भ कुशा से वेष्टन करता है फिर आठ वार मिट्टी के लेप से उसे लेपन देता है, फिर उसे वारम्वार धूप में सुखाता है। जब तुंबा सर्व प्रकार से सूख गया फिर अथाह और न तैरने योग्य जल मे उस तुंबे को प्रक्षेप करता है, फिर हे गौतम ! क्या वह तुंबा जो उन आठ प्रकार के मिट्टी के लेप से गुरुत्वभाव को प्राप्त होगया है और भारी होगया है, अतः गुरुत्व के भार से पानी के तल को अतिक्रम करके नीचे धरती के तल मे प्रतिष्ठान नहीं करता है ? भगवान् गौतम जी कहते हैं कि-हॉ, भगवन् ! करता है अर्थात् पानी के नीचे चला जाता है। पुन भगवान् बोले कि-हे गौतम ! क्या वह तुंबा आठ मिट्टी के लेपों को परिक्षय करके धरती के तल को अतिक्रम करके जल के ऊपर नहीं आजाता है ? इसके उत्तर मे गौतम स्वामी जी कहते हैं कि-हॉ भगवन् !

भावार्थ—हे भगवन् ! पूर्व प्रयोग के द्वारा अकर्मक जीव की गति किस प्रकार स्वीकार की जाती है ? हे गौतम ! जिस प्रकार धनुष से तीर छूटकर फिर लक्ष्याभिमुख होकर गति करता है ठीक उसी प्रकार-निसंगता से निरंगता से यावत् पूर्व प्रयोग से अकर्मक जीव की गति होती है क्योंकि—यावन्मात्र धनुष् बाण के चलाने वालों का बल होता है तावन्मात्र ही वह तीर लक्ष्य की ओर होकर गति की ओर प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार जब आत्मा तीनों योगों का सर्वथा निरोध कर शरीर से पृथक् होता है तब वह स्वाभाविक ही गति करता है, अतएव सिद्ध हुआ कि-अकर्मक जीव लोकाग्र पर्यन्त गति कर फिर वहाँ पर सादि अनंत पद वाला होकर विराजमान हो जाता है। अब यदि इस स्थान पर यह शंका हो कि-पहिले कर्म या पीछे जीव हुआ, तो इसका समाधान इस प्रकार है कि-कर्म कर्त्ता के अधीन होता है क्योंकि-कर्ता की जो क्रिया है उसका फलरूप कर्म है। सो जब कर्ता मे क्रिया ही उत्पन्न नहीं हुई तो भला कर्म कर्ता से पहिले किस प्रकार बन सकता है, अतएव यह पक्ष किसी प्रकार भी सिद्ध नही हो सकता कि कर्ता के पहिले कर्म उत्पन्न हो गया। यदि ऐसे कहा जाय कि-पहिले जीव मान लिया जाए फिर कर्म मान लेने चाहिये, सो यह पक्ष भी युक्ति क्षम नहीं है क्योंकि-फिर पहिले जीव को कर्मो से सर्वथा रहित मानना पड़ेगा जब जीव सर्वथा कर्मों से रहित सिद्ध होगा तो फिर इस आत्मा को कर्म लगे ही क्यो ? यदि ऐसे माना जाय कि-विना किए ही कर्म जीव को लग गये, तब यह शंका उपस्थित होती है कि-जब विना किये कर्म लग सकते हैं तो फिर जो सिद्धात्मा सर्वथा कर्मो से रहित हैं उन को क्यो नही कर्म लगते। अतएव यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

यदि ऐसे माना जाय कि-कर्म और आत्मा युगपत् समय उत्पन्न होगये तब इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि-जब कर्म और जीव की उत्पत्ति मानी जायेगी तब जीव और कर्म दोनो सादि सान्त हो जायेगे तथा फिर दोनो के कारण कौन कौन से माने जायँगे ? क्योंकि-जब जीव और कर्म कार्य मानलिये गये तो फिर इन दोनो के कारण कौन २ से हुये। अतः यह पक्ष भी स्वीकृत नही हो सकता। यदि ऐसे माना जाय कि—जीव कर्मों से सदैव काल ही रहित है, तो इसमे यह शंका उपस्थित होती है कि-फिर इस संसार मे यह जीव जन्म मरण दुःख वा सुख क्यो उठा रहा है ? क्यो कि—विना कर्मो के उक्त कार्य नही हो सकते। क्यों कि—यदि कर्मो के विना भी दुःख वा सुख प्राप्त हो सकता है तो फिर सिद्धात्मा भी सुख वा दुःख के भोगने वाले सिद्ध हो जायेंगे। अतएव यह मानना भी युक्ति संगत सिद्ध नही होता है।

साथ (पुद्गल कर्मों का) सम्बन्ध है तब तक ही आत्मा मे कर्म आते जाते रहते हैं। क्योंकि-पुद्गल में परस्पर आकर्षण शक्ति विद्यमान है। पुद्गल को पुद्गल आकर्षण करता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-दोनों नयों का मानना युक्तियुक्त है क्योंकि-यदि इस प्रकार से न माना जायगा तब अत्मा के साथ कर्मों का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा जिसे फिर इस आत्मा का निर्वाणपद प्राप्त करना असभव सिद्ध होगा। इसलिये संवर द्वारा नूतन कर्मों के आश्रव का निरोध कर प्राचीन कर्मों का ध्यानतप द्वारा क्षय करना चाहिए।

यद्यपि जैनसूत्रों तथा कर्मग्रथों में अनेक स्थलों पर कर्मो की विस्तृत व्याख्या की गई है तथापि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन के लिये आठों मूल प्रकृतियों के नामोल्लेख किये गए हैं ताकि जिज्ञासु जनों को इस विषय मे अधिक रुचि उत्पन्न हो। यत् किंचित् मात्र इस स्थान पर लिखने का प्रयोजन इतना ही था कि-बद्ध को मोक्षपद होसकता है नतु मुक्त को। संसारी जीव उक्त आठों प्रकार के कर्मों से लिप्त हैं। जब वे उक्त कर्मों के बंधनो से विमुक्त होजायेंगे तब ही मोक्षपद प्राप्त कर सकेंगे। अतएव प्रत्येक आस्तिक जिज्ञासु आत्मा को योग्य है कि—वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा कर्मो से रहित होकर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनत बलवीर्य को निज आत्मा मे विकास कर उस में फिर रमण करे। निर्वाण पद प्राप्त होने पर निश्चय नय के अनुसार आत्मा ही देव, आत्मा ही गुरु और आत्मा ही धर्म है।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे मोक्षस्वरूपवर्णनात्मिका अष्टमी कलिका समाप्ता ॥

नवमी कलिका

(जीव परिणाम विषय)

इस द्रव्यात्मक जगत् में मुख्यतया दो ही तत्त्व प्रति पादन किये गए हैं। जीव और अजीव। इन्ही दोनों तत्त्वो के अनंत भेद हो जाने से जगत् मे नाना प्रकार की विचित्रता दिखाई पड़ती है। कारण कि-"उत्पादव्यय—ध्रौव्यसत्" द्रव्य का लक्षण जैनशास्त्रो ने उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप स्वीकार किया है। इस कथन से द्रव्यास्तिक नय और पर्यायास्तिक नय भी सिद्ध किये गए हैं। द्रव्यास्तिक नय के आश्रित सर्व द्रव्य ध्रौव्य पद मे रहता है परन्तु उत्पाद और व्यय के देखने से सर्व द्रव्य पर्यायास्तिक नय के आश्रित दीख पड़ता है। साथ ही इस बात का भी प्रकाश कर देना उचित प्रतीत

कतिविधेणं भंते परिणामे पन्नते ? गोयमा ! दुविहे परिणामे पन्नत्ते तंजहा जीव परिणामे य अजीव परिणामे य ॥ १ ॥

अर्थ—श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से भगवान् गौतम स्वामी जी प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन् ! परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् वर्णन करते हैं कि—हे गौतम ! परिणाम दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि—जीव परिणाम और अजीव परिणाम । जीव परिणाम सप्रायोगिक और अजीव सवैश्रसिक होता है । मन, वचन, और काय द्वारा जब आत्मा पुद्गलों का आकर्षण करता है तब उसमें स्वयम् परिणत होजाता है । उसको प्रायोगिक परिणाम कहते हैं किन्तु जो पुद्गल स्वयमेव स्कन्धादि में परिणत होता रहता है उसको अजीव परिणाम कहते हैं । इस पद में सर्व वर्णन स्याद्वाद के आश्रित होकर किया गया है इस लिये पाठकों को स्याद्वाद का भी सहज मे ही बोध हो सकेगा ।

अब जीव परिणाम के मुख्य २ भेदों के विषय पूछते हैं ।

जीव परिणामेणं भंते कतिविधे प. गोयमा ! दसविधे पन्नते, तंजहा—गतिपरिणामे इंदियपरिणामे कसायपरिणामे लेसापरिणामे जोगपरिणामे उवओगपरिणामे णाणपरिणामे दंसणपरिणामे चरित्तपरिणामे वेदपरिणामे ॥

अर्थ-हे भगवन् ! जीव परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! जीव परिणाम दस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि-गति १ इन्द्रिय २ कषाय ३ लेश्या ४ योग ५ उपयोग ६ ज्ञान ७ दर्शन ८ चारित्र ९ और वेदपरिणाम १० । अर्थात् जब आत्मा अपने कर्मों द्वारा नरकादि गतियो में जाता है तब जीव गतिपरिणामयुक्त हो जाता है । अतएव सर्व भावो का अधिगम गतिपरिणाम के प्राप्त हुए विना प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए शास्त्रकर्ता ने गतिपरिणाम सर्व परिणामो से प्रथम उपन्यस्त किया है। जब गतिपरिणाम से युक्त होगया तो फिर "इदनादिन्द, आत्मा ज्ञानलक्षण परमैश्वर्ययोगात् तस्येदमिन्द्रियमिति' ज्ञान लक्षण आत्मा इन्द्रियो मे परिणत होने से इन्द्रिय परिणाम कथन किया गया है । इन्द्रियो द्वारा इष्टानिष्ट विषयो का सम्बन्ध होने से राग और द्वेष के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं । फिर कषाय परिणाम कथन किया गया है । सो कषाय परिणाम युक्त आत्मा लेश्या परिणाम वाला होता ही है अतः कषायानंतर लेश्या परिणाम कथन किया गया है। कारण कि—कष नाम संसार का है सो जो संसार चक्र में आत्मा को परिभ्रमण करावे उसे ही कषाय कहते हैं ।

दधि (कठिन जल) फिर उसके ऊपर पृथ्वी। सो पृथ्वी के ऊपर त्रस और स्थावर जीव रहते हैं, नरकों का पूर्ण सविस्तर स्वरूप देखना हो तो श्रीजीवाभिगमादि सूत्रों से जानना चाहिए।

सो जब जीव नरकों में जाता है तब उस आत्मा का नरक गति परिणाम कहा जाता है। जब तिर्यग् गति में जीव गमन करता है तब वह तिर्यग् गति परिणामी कहा जाता है परन्तु पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजोकायिक, वायु कायिक, वनस्पतिकायिक ये पांचों स्थावर तिर्यग्गति मे गिने जाते हैं। फिर दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे सीप शंखादि, तीनों इन्द्रियों वाले जीव जैसे जूँ, लिक्षा, खुरसली, कीड़ी आदि, चतुरिन्द्रिय जीव जैसे मक्खी मच्छर विच्छु आदि, पांच इन्द्रियां वाले जीव जैसे गौ, अश्व हस्ती मूषकादि तथा जल मे रहने वाले मत्स्यादि जीव स्थल मे रहने वाले जैसे—गौ अश्वादि, आकाश मे उड़ने वाले जैसे शुक, हंस कागादि यह सर्व जीव तिर्यग्गति मे गिने जाते है। इनका पूर्ण विवरण देखना हो तो प्रज्ञापनादि सूत्रो से जानना चाहिए। सो जब जीव मर कर तिर्यग् गति मे जाता है तब उस समय उस जीव का तिर्यग्गति परिणाम कहा जाता है। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि तिर्यग् गति मे ही अनंत आत्मा निवास करते रहते है और अनंत काल पर्यन्त इसी गति में कायस्थिति करते हैं। यदि पाप कर्मों के प्रभाव से जीव इस गति में चला गया तो फिर उस का कोई ठिकाना नहीं है कि—वह आत्मा कब तक उस गति मे निवास करेगा क्योंकि—अनंत काल पर्यन्त जीव उक्त गति मे निवास कर सकता है। यदि मोक्षारूढ़ न हुआ तो उक्त गति में अवश्य गमन करना होगा अतएव मोक्षारूढ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

जब आत्मा शुभाशुभ कर्मों द्वारा मनुष्य गति मे प्रविष्ट होता है तब उस का मनुष्यगति परिणाम कहा जाता है। मुख्यतया मनुष्यो के दो भेद हैं जैसेकि—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। असि (खड्गविधि) मषि (लेखन विधि) कृषि (कृषीविधि) इत्यादि शिल्पो द्वारा जो अपना निर्वाह करते हैं उन्हें कर्मभूमिक मनुष्य कहते है। उनके फिर मुख्य दो भेद हैं आर्य और म्लेच्छ (अनार्य)। फिर उक्त दोनो के बहुतसे उपभेद हो जाते हैं। द्वितीय अकर्मभूमिक मनुष्य हैं जो अपना निर्वाह केवल कल्पवृक्षो द्वारा ही करते हैं अपितु कोई कर्म नहीं करते। उनके भी बहुतसे क्षेत्र प्रतिपादन किये गए है। तृतीय सम्मूर्छिम जाति के मनुष्य भी होते हैं जो केवल मनुष्यो के मल मूत्रादि में ही सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होते रहते हैं। मनुष्य के मलमूत्रादि मे होने से ही उनकी भी मनुष्य संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार मनुष्यो के

जाता है तब उस जीव का देवगति परिणाम कहा जाता है। इस कथन करने का सारांश इतना ही है कि—उक्त चारो गतियों में जीव का परिणत होना प्रतिपादन किया गया है।

अब इसके अनन्तर सूत्रकार इन्द्रिय परिणाम विषय कहते हैं जैसेकि-

इंदियपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! पंचविधे प.त. सोतिंदियपरिणामे चक्खुंदियपरिणामे घाणिंदियपरिणामे जिब्भिंदियपरिणामे फासिंदियपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! इन्द्रिय परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! इन्द्रिय परिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-श्रुतेन्द्रिय परिणाम, चक्षुरिन्द्रिय परिणाम, घ्राणेन्द्रिय परिणाम, रसनेन्द्रिय परिणाम और स्पर्शेन्द्रिय परिणाम। उक्त पांचों इन्द्रियों में जीव का ही परिणमन होता है। इसीलिये फिर जीव उक्त पांच इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के बोध से बोधित हो जाता है। यदि ऐसे कहा जाए कि—जब श्रुतेन्द्रिय शब्दों को नहीं सुन सकता अर्थात् बधिर हो जाता है तो क्या उस समय उस इन्द्रिय में जीव का परिणमन नहीं होता। इसके उत्तर में कहा जाता है कि-जीव का परिणमन तो अवश्यमेव होता है, परन्तु श्रोत्रविज्ञानावरण विशेष उदय में आजाता है: इसी कारण वह बधिर होता है। क्योंकि-यदि जीव का परिणमन न माना जाय तो क्या वह शस्त्रादि द्वारा छेदन किये जाने पर दुःख नही अनुभव करता है: अवश्यमेव अनुभव करता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों मे जीव परिणत हो रहा है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी होने पर सर्व शरीर में व्यापक हो रहा है इसलिये उसका परिणत होना स्वाभाविक बात है। सारांश इतना ही है कि-जो पांचों इंद्रियों द्वारा ज्ञान होता है वही जीव परिणाम कहा जाता है क्योंकि-जीव के परिणत हुए विना ज्ञान किस प्रकार प्रगट हो ? अतएव जीव परिणाम पांचों इंद्रियो द्वारा किया जाता है।

अब सूत्रकार इंद्रिय परिणाम के पश्चात् कषाय परिणाम विषय कहते हैं:-

कसाय परिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! चउविहे प. तं.कोहकसायपरिणामे माणकसायपरिणामे मायाकसायपरिणामे लोहकसाय परिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! कषाय परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गोतम ! कषाय परिणाम चार प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि—क्रोध कषाय परिणाम, मानकषाय परिणाम, मायाकषाय परिणाम

और अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले जीव का शुक्ललेश्या में परिणमन माना गया है। सो उक्त षट् लेश्याओं का पूर्ण विवरण प्रज्ञापन सूत्र के १७वें लेश्या पद में बड़े विस्तार से कथन किया गया है वहां से देखना चाहिए।

जीव षट् लेश्याओं में ही परिणत होता है। इसी कारण से कर्मों का बंध जीव के प्रदेशों के साथ होजाता है। जब चतुर्दशवें गुण स्थानारूढ जीव होता है तब अलेश्यी होकर ही मोक्ष गमन करता है, पहली तीन अशुभ लेश्याएं हैं और तीन शुभ। अतएव अशुभ लेश्याओं से अन्तःकरण को शुद्ध कर शुभ-लेश्याओं में ही परिणत होना चाहिए ताकि जीव को धर्म की प्राप्ति हो। जिस प्रकार स्निग्ध पदार्थ से वस्तु का बंध होना निश्चित है, उसी प्रकार लेश्याओं द्वारा कर्मों का बंध होना स्वाभाविक बात है।

अब सूत्रकार लेश्या के पश्चात् योगपरिणाम विषय कहते हैं जैसे कि-

जोग परिणामेणं भंते कतिविधे पं. ? गोयमा ! तिविधे प. तं. मणजोग-परिणामे वयजोगपरिणामे कायजोगपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! योगपरिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! योग परिणाम तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि-मनोयोगपरिणाम, वचनयोग परिणाम और काययोग परिणाम। इसका सारांश यह है कि-जब मन के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया जाता है तब आत्मा का परिणाम मन में होता है क्यों कि-आत्मा के परिणाम (परिणत) होजाने से ही मन की स्फुरणा सिद्ध होती है। इसी कारण आत्मा के भाव हीयमान, वर्द्धमान तथा अवस्थित माने जाते हैं। शास्त्रों में मन की करण संज्ञा मानी गई है। करण वही होता है जो कर्त्ता की क्रिया में सहायक बन सके। जब आत्मा मनोयोग में प्रवृत्त होता है तब मन के मुख्यतया चार भेद माने जाते हैं। जैसेकि—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्रितमनोयोग और व्यवहारिक मनोयोग। आत्मा का लक्षण वीर्य और उपयोग माना गया है। सो जब आत्मा का बल वीर्य मनोयोग में जाता है तब मनोयोग की निष्पत्ति मानी जाती है। अपितु पंडित वीर्य बाल वीर्य और बाल-पंडितवीर्य, इस प्रकार के वीर्यो के कारण से मनोयोग के असंख्यात संकल्प (स्थान) कथन किए गये है। वे संकल्प शुभ और अशुभ दोनो प्रकार से प्रतिपादन किये गए हैं। मन एक प्रकार से सूक्ष्म चतुःप्रदेशिक परमाणुओं का पिंड है। आत्मा के परिणत हो जाने से ही मनोयोग कहा जाता है। जिस प्रकार मनोयोग का वर्णन किया गया है ठीक इसी प्रकार वचनयोग और काययोग के विषय मे भी जानना चाहिए। सारांश इतना ही है कि-तीन योगों मे आत्मा का परिणाम प्रतिपादन

अवधिज्ञान परिणाम युक्त कहा जाता है। यद्यपि आत्मा ज्ञानरूप ही है तथापि ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से पांच ज्ञानो मे परिणत होजाता है। इन ज्ञानो का पूर्ण स्वरूप नंदी सिद्धान्त से जानना चाहिए। संक्षेप से यहां वर्णन किया जाता है।

१ मतिज्ञान—बुद्धिपूर्वक पदार्थों का अनुभव करना अर्थात् मतिज्ञान से पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना।

२ सुनकर पदार्थों का मतिपूर्वक विचार करना।

३ अपने ज्ञानद्वारा रूपी पदार्थों को जानना। इस ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं,।

४ मनःपर्यवज्ञान संज्ञी (मन वाले) जीवों के जो मन के पर्याय हैं उनको जानलेना है।

५ केवलज्ञान उस का नाम है जिसके द्वारा सर्व द्रव्य और पर्यायो को हस्तामलकवत् देखा जाए। इस ज्ञान वाले को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है। इन्हीं ज्ञानो मे जीव का परिणत होना माना गया है। प्रथम चार ज्ञान छद्मस्थ के और पंचम ज्ञान सर्वज्ञ का कहा जाता है।

अब ज्ञान के प्रतिपक्ष अज्ञान परिणाम विषय कहते हैं,—

अणाणपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! तिविहे प. तंजहा मइअणाणपरिणामे सुयअणाणपरिणामे विभंगणाणपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! अज्ञान परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गोतम ! अज्ञान परिणाम तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—मतिअज्ञानपरिणाम, श्रुतअज्ञानपरिणाम, विभंगज्ञानपरिणाम। सद्ज्ञान से रहित पदार्थों का स्वरूप चिंतन करना अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यों का स्वरूप श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया है उससे विपरीत पदार्थों का स्वरूप मति द्वारा अनुभव करना उसी का नाम मति अज्ञान परिणाम है। यद्यपि व्यवहार पक्ष में मति ज्ञान और मति अज्ञान का विशेष भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु द्रव्यों के भेदों के विषय मे ज्ञान और अज्ञान की परीक्षा पूर्णतया सहज मे ही हो जाती है। जिस प्रकार मति अज्ञान पदार्थों के सद्रूप को असद् रूप से अनुभव करता है ठीक उसी प्रकार श्रुत अज्ञान के विषय में जानना चाहिए। मिथ्या श्रुत द्वारा ही लोक मे अज्ञान अपना अंधकार विस्तृत करता है जिससे प्राणी उन्मार्गगामी बनते हैं। तृतीय अवधिज्ञान का प्रतिपक्ष विभंगज्ञान है. जिस का यह मन्तव्य है कि—जो निज उपयोग द्वारा (योग द्वारा) पदार्थों का स्वरूप अनुभव करना है यदि वह स्वरूप अयथार्थता से अनुभव करने मे आवे उस को विभंग ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! चरित्रपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! चारित्र परिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि—सामायिक चरित्र परिणाम, छेदोपस्थापनीय चरित्र परिणाम परिहार विशुद्धिक चरित्रपरिणाम, सूक्ष्म सांपरायिक चारित्रपरिणाम और यथाख्यात चारित्र परिणाम। शास्त्रों में चारित्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—जिस से आत्मा के ऊपर से 'चय' कर्मों का उपचय दूर हो जावे उसका नाम चारित्र है। यद्यपि शास्त्रों में उक्त चारित्रों की विस्तार पूवक व्याख्या लिखी हुई है तथापि उक्त चारित्रों के नामों का मूलार्थ इस प्रकार वर्णन किया गया है जैसेकि—

१ सामायिक चारित्र—जिसके करने से आत्मा में समता भाव की प्राप्ति हो और सम्यक्तया योगों का निरोध किया जावे उस का नाम सामायिक चारित्र है।

२ छेदोपस्थापनियचारित्र-पूर्व पर्याय को छेद कर फिर पांच महाव्रत रूप पर्याय को धारण करना उस का नाम छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३ परिहारविशुद्धिक चारित्र—जिसके करने से पूर्व प्रायश्चित्तों से आत्म-विशुद्धि कर आत्म-कल्याण किया जाय उस का नाम परिहार विशुद्धिक चारित्र है। सम्प्रदाय मे यह बात चली आती है कि—नव साधु इस चारित्र को धारण कर गच्छ से बाहिर हो कर १८ मास पर्यन्त तप करते हैं जैसेकि-प्रथम चार साधु छः मास पर्यन्त तप करने लग जाते हैं और चार साधु उन की वैयावृत्यादि करते हैं। एक साधु व्याख्यानादि क्रियाओ मे लगा रहता है। जब वे तपकर्म कर चुकें तब सेवा करने वाले चारों साधु तप करने लग जाते हैं और वे चारों उनकी सेवा करते रहते हैं, परन्तु व्याख्यानादि क्रियाएँ वही साधु करता रहता है। जब वे चारो साधु षट मास पर्यन्त तप कर चुकें तब वह व्याख्यानादि क्रियाएँ करने वाला साधु षद् मास पर्यन्त तप करता है और उन आठों साधुओं में एक साधु व्याख्यानादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है शेष सात साधु उसकी सेवा करने लगते हैं। इस क्रम से ये नव साधु १८ मास पर्यन्त उक्त चारित्र की आराधना कर फिर गच्छ में आजाते हैं।

सूक्ष्मसांपरायचारित्र—जिस चारित्र मे सूक्ष्म लोभ का अंश रहजावे। यह चारित्र दशवें गुणस्थानवर्त्ती जीवो को होता है।

यथाख्यातचारित्र—जिस प्रकार क्रियाओ का वर्णन करे उसी प्रकार क्रियाओं का करने वाला यथाख्यातचारित्र कहा जाता है। यह चारित्र सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधुओ को होता है अर्थात् ११ वे, १२ वें, १३ वे, और १४ वे गुणस्थानवर्त्ती जीवो को यथाख्यात चारित्र

१ नरकगतिपरिणाम की अपेक्षा से नरकगति परिणाम में वे जीव परिणत हो रहे हैं।

२ इंद्रियपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव पंचेंद्रिय परिणाम से परिणत है।

३ कषायपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में भी परिणत हो रहे हैं।

४ लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से वे जीव कृष्ण लेश्या, नीललेश्या और कपोत लेश्या में ही परिणत हो रहे हैं

५ योगपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव मन, वचन और काय के योग से भी परिणत हो रहे हैं।

६ उपयोग परिणाम की अपेक्षा से—वे जीव साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त दोनों उपयोगों से उपयुक्त हो रहे हैं।

७ ज्ञानपरिणाम की अपेक्षा से आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान से परिणत है। अज्ञान परिणाम की अपेक्षा से मति अज्ञान श्रुत अज्ञान तथा विभंग ज्ञान से परिणत हो रहे हैं।

८ दर्शनपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव सम्यग्दृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग् और मिथ्यादृष्टि भी हैं।

९ चारित्र परिणाम की अपेक्षा से वे जीव साधुवृत्ति वाले नहीं हैं। नाँही वे गृहस्थ धर्म के पालन करने वाले ही है। किन्तु वे अचरित्री अर्थात् नियमादि से रहित ही हैं।

१० वेदपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव स्त्रीवेदी नही हैं, नाँही वे जीव पुरुषवेदी ही हैं किन्तु वे तो केवल नपुंसक वेद वाले ही हैं।

इस प्रकार नरक में रहने वाले जीवो के दश प्रकार के परिणाम होते है। साथ मे यह भी सिद्ध किया गया है कि जीव सदैव काल परिणत होता रहता है। अतएव जीव को परिणामी माना गया है किन्तु द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं माना जाता, केवल द्रव्य का द्रव्यान्तर होजाना ही परिणाम माना गया है।

अब दश प्रकार के भवनपति देवो के परिणाम विषय मे सूत्रकार कहते हैं। जैसेकि—

असुर कुमारावि एवं चेव नवरं देवगतिया कण्हलेसावि जाव तेउलेसावि वेदपरिणामेणं इत्थिवेदगावि पुरिस वेदगावि नो नपुंसक वेदगा सेसं तं चेव एवं थणिय कुमारा।

भावार्थ—जिस प्रकार नरक मे रहने वाले जीवों का वर्णन किया गया

भावार्थ-द्वीन्द्रिय जीवगति परिणाम की अपेक्षा से तिर्यग् गति परिणाम से परिणत हैं। इंद्रियपरिणाम से जीव द्वीन्द्रिय हैं क्योंकि मुख और शरीर ही इनकी इंद्रियां हैं। किन्तु शेष वर्णन नारकीयवत् है। केवल योगपरिणाम की अपेक्षा से वचनयोग और काययोग ही होता है। ज्ञान परिणाम की अपेक्षा से आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान भी है तथा अज्ञान परिणाम की अपेक्षा से मतिअज्ञान और श्रुत अज्ञान भी है। अपितु विभंगज्ञान नहीं है। दर्शन परिणाम की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है किन्तु सम्यग्मिथ्या दृष्टि नहीं है। शेषवर्णन पूर्ववत् है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जानना चाहिए। भेद केवल इतना ही है कि -इन्द्रियों की वृद्धि कर लेनी चाहिए जैसेकि—त्रीन्द्रिय जीवों की तीन ही इंद्रियां होती हैं और चतुरिन्द्रिय जीवों की चार इंद्रियां होती हैं। परन्तु शेष परिणामों का वर्णन प्राग्वत् जानना चाहिये।

अब इनके अनन्तर सूत्रकार पचेन्द्रिय तिर्यग्विषय में कहते हैं:—

पंचेंदिय तिरिक्ख जोणिया, गतिपरिणामेणं तिरियगतिया, सेसं जहा नेरइयाणं णवरं लेसापरिणामेणं जाव सुक्कलेसावि चरित्तपरिणामेणं णो चरित्ती अचरित्तिवि चरित्ताचरित्तिवि वेदपरिणामेणं इत्थिवेदगावि पुरिसवेदगावि णपुंसकवेदगावि ॥

भावार्थ—पंचेंद्रिय तिर्यग्योनिक जीव गतिपरिणाम की अपेक्षा से तिर्यग्गति में परिणत हैं। किन्तु शेष वर्णन जैसे नारकियों का किया गया था उसी प्रकार जानना चाहिये। भेद इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से पंचेंद्रिय तिर्यग्योनिकों में कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या इन छः ही लेश्याओं में उक्त जीवों के परिणाम हो जाते हैं। यदि चारित्रपरिणाम की अपेक्षा से उनको देखते हैं तब वे जीव सर्वथा चारित्री नहीं होते किन्तु अचरित्री और चारित्राचरित्री होजाते हैं, परंच वेद परिणाम की अपेक्षा से वे जीव स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इस प्रकार तीनो वेदों में परिणत हो रहे हैं।

अब इसके अनंतर मनुष्य परिणाम विषय कहते हैं-

मणुस्साणं गतिपरिणामेणं मणुयगतिया इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया अणिंदियावि कसायपरिणामेणं कोहकसायीवि जाव अकसाईवि लेसा परिणामेणं कण्हलेसावि जाव अलेसावि जोगपरिणामेणं सजोगीवि जाव अजोगीवि उवओगपरिणामेणं जहा नेरइया णाणपरिणामेणं आभिणिबोहियणाणीवि जाव केवलनाणीवि अणाणपरिणामेणं तिण्णि विअणाणा,

तथा अवेदी (अविकारी) भी हैं। इस प्रकार मनुष्यगति के जीवों के दश परिणामों का वर्णन किया गया है।

अब इसके अनन्तर व्यन्तर देव ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के परिणाम विषय कहते हैं—

वाणमंतरा गतिपरिणामेणं देवगतिया जहा असुर कुमारा एवं जोइसियावि नवरं लेसापरिणामेणं तेउलेसा, वेमाणियावि एवं चेव नवरं लेसा परिणामेणं तेउलेसावि पम्हलेसावि सुकलेसावि सेतं जीवपरिणामे।

भावार्थ—व्यन्तर देव गतिपरिणाम की अपेक्षा से देवगति परिणाम से परिणत हो रहे हैं। जिस प्रकार असुर, कुमार देवों का वर्णन पूर्व किया जा चुका है ठीक उसी प्रकार व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के विषय में भी जानना चाहिये. भेद केवल इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम के विषय केवल तेजोलेश्या जाननी चाहिये।

इसी प्रकार वैमानिक देवों के विषय में भी जानना चाहिये किन्तु विशेष इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या से वे देव परिणत हो रहे हैं। सारांश इतना ही है कि—वैमानिक देव उक्त तीनों लेश्याओं के परिणाम से परिणत हो रहे हैं। शेष परिणामों का वर्णन प्राग्वत् है।

इस प्रकार दश प्रकार के परिणामों में जीव परिणत हो रहा है। अतएव जीव को परिणामी कहा गया है। द्रव्य से द्रव्यान्तर हो जाना ही परिणाम का प्रथम लक्षण वर्णन कर चुके हैं। पर्याय नय उसको उत्पाद और व्ययरूप से मानता है किन्तु द्रव्य को ध्रौव्य रूप से स्वीकार करता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय केवल द्रव्यको द्रव्यान्तर होना ही स्वीकार करता है।

सो इस प्रकार जीव परिणाम कथन करने के अनन्तर अब सूत्रकार अजीव परिणाम विषय में कहते हैं जैसेकि—

अजीवपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! दसविधे पएणत्ते तंजहा—बंधणपरिणामे गतिपरिणामे संठाणपरिणामे भेदपरिणामे वएणपरिणामे गंधपरिणामे रसपरिणामे फासपरिणामे अगुरुयलहुयपरिणामे सद्दपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! अजीव परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! अजीवपरिणाम दश प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि—बंधनपरिणाम, गतिपरिणाम, संस्थानपरिणाम, भेदपरिणाम, वर्णपरिणाम, गंधपरिणाम, रसपरिणाम, स्पर्शपरिणाम, अगुरुकलघुकपरिणाम, शब्दपरि-

त्वस्य रूक्षत्वस्य च विषममात्रा भवति तदा बधः स्कन्धानामुपजायते । इयमत्र भावना–समगुण-स्निग्धस्य परमाण्वादेः समगुण स्निग्धेन परमाण्वादिना सह सम्बन्धो न भवति तथा समगुणरूक्ष-स्यापि परमाण्वादेः समगुणरूक्षेण परमाण्वादिना सह संबंधो न भवति, किन्तु यदि स्निग्ध स्निग्धेन रूक्षोरूक्षेण सह विषमगुणो भवति तदा विषममात्रत्वात् भवति तेषा परस्परं सम्बध । विषममात्रया बधो भवतीत्युक्तम्, ततो विषममात्रानिरूपणार्थमाह– 'निद्धस्स णिद्धेण दुहियाणेत्यादि' यदि स्निग्धस्य परमाण्वादेः स्निग्धगुणेनैव सह परमाण्वादिना बंधो भवितुमर्हति तदा नियमात् द्व्याधिका-धिकगुणेनैव परम एवादिनेति भाव । रूक्षगुणस्यापि परमाण्वादेः रूक्षगुणेन परमाण्वादिना सह यदि बधो भवति तदा तस्यापि तेन द्व्याद्यधिकगुणेनैव, नान्यथा । यदा पुन. स्निग्धरूक्षयोर्बंधस्तदा कथमिति चेदत आह–'निद्धस्स लुक्खेणेत्यादि' ।स्निग्धस्य रूक्षेण सह बंधमुपैति उपपद्यते जघन्यवर्ज्यो विषम समो वा किमुक्त भवति—एकगुणस्निग्ध एक गुणरूक्षं च मुक्त्वा शेषस्य द्विगुणस्निग्धादेर्द्विगुणरूक्षादिना सर्वेण बधो भवतीति उक्तो बंधनपरिणामः ।

इसका अर्थ पूर्व लिखा जा चुका है । सर्वोक्त कथन का सारांश इतना ही है कि—जब स्कंधों का परस्पर बंधन होता है तब उन स्कंधों के स्निग्धादि गुण वैमात्रिक होते है । तब ही उनका बंधन हो सकता है ।

अब बंधन परिणाम के अनन्तर गतिपरिणाम विषय कहते हैः—

गतिपरिणामेणं भंते कतिविहे प. ? गोयमा ! दुविहे पएणते तंजहा—फुसमाणगतिपरिणामे अफुसमाणगतिपरिणामे अहवादीहगतिपरिणामे रहस्सगतिपरिणामेय ।

भावार्थ—हे भगवन् ! गतिपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! गति परिणाम दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-स्पर्शमान गति परिणाम और अस्पर्शमानगतिपरिणाम तथा दीर्घगतिपरिणाम वा ह्रस्वगतिपरिणाम । इस कथन का सारांश इतना ही है कि-जब पुद्गल गति परिणाम में परिणत होता है तब वह दो प्रकार से गति करता है । एक तो स्पर्शमानगति परिणाम । जैसे जो-पुद्गल गति मे परिणत हुआ तब वह अपने क्षेत्र में आने वाले आकाश प्रदेशों को तथा स्वक्षेत्र से पृथक् आकाशप्रदेशो को स्पर्श करके ही गति करता है । जिस प्रकार एक शर्कर (कांकरी) जल पर किसी द्वारा प्रक्षिप्त की हुई जल को स्पर्श कर वा विना स्पर्श कर गति करता है ठीक उसी प्रकार पुद्गल भी आकाश प्रदेश अपने से जो पृथक् हैं उनको भी स्पर्श करके गति करता है। दूसरे भेद में जिस प्रकार पक्षी भूमि को न स्पर्श करता हुआ गति करता है उसी प्रकार पुद्गल भी अपने क्षेत्री प्रदेशों को छोड़ कर अन्य प्रदेशों को न स्पर्श करता हुआ गति करता है । सो इन्हीं को स्पर्शमान और अस्पर्शमान गतिपरिणाम कहते है। एवं दीर्घगति

णाम और शुक्लवर्ण परिणाम, अर्थात् यावन्मात्र पुद्गल है वे सर्व कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण में ही परिणत होरहे हैं। क्योंकि ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जो वर्ण से रहित हो। अतः सर्व पुद्गल पंचवर्णी हैं।

वर्ण युक्त होने के कारण पुद्गल गंध धर्म वाला भी है। अतएव सूत्रकार गंध विषय कहते हैं--

गंध परिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! दुविहे प. तंजहा सुब्भिगंध परिणामे दुब्भिगंध परिणामे य।

भावार्थ—हे भगवन् ! गंध परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! दो प्रकार से, जैसेकि—सुगंध परिणाम और दुर्गन्ध परिणाम क्योंकि यावन्मात्र पुद्गल है वह सब दोनो प्रकार के गंधों में परिणत होरहा है तथा गंधों में परिणत होना यह पुद्गल का स्वभाव ही है।

अब सूत्रकार रस परिणाम विषय कहते हैं। जैसेकि—

रसपरिणामेणं भंते कतिविहे प. ? गोयमा ! पंच विहे पएणत्ते तंजहा तित्तरसपरिणामे जाव महुररस परिणामे।

भावार्थ-हे भगवन् ! रसपरिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! रस परिणाम पांच प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि-तिक्त रस परिणाम, कटुक रस परिणाम, कसायला रस परिणाम, खट्टा रस परिणाम और मधुर रस परिणाम अर्थात् यावन्मात्र पुद्गल है वह सब पांचो ही रसो मे परिणत होरहा है। यद्यपि छठा लोगों ने लवणरस भी कल्पन किया हुआ है किंतु वह रस संयोगजन्य है। इस लिये शास्त्रकर्ता ने पांचों ही रसो का विधान किया है। पुद्गल का यह स्वभाव ही है कि वह रसों मे परिणत होता रहता है क्योंकि-पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिमान् है। सो जो द्रव्य मूर्त्तिमान् होता है वह वर्ण गंध रस और स्पर्श वाला होता है। अतएव सूत्रकार इसके अनन्तर स्पर्श विषय कहते हैं तथा रस धर्म अजीव का प्रतिपादन किया गया है नतु जीव का। क्योंकि जीव तो एक अरूपी पदार्थ है।

अब सूत्रकार स्पर्शविषय कहते हैः—

फासपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! अट्ठविधे प. तंजहा कक्खड़फासपरिणामे जाव लुक्खफासपरिणामे य॥

भावार्थ--हे भगवन् ! स्पर्श परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! स्पर्श परिणाम आठ प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि-कर्कशस्पर्शपरिणाम, मृदुस्पर्शपरिणाम, गुरुस्पर्शपरिणाम, लघुस्पर्शपरिणाम,